पढ़ें और सीखें योजना

भीखाई जी कामा

डॉ. (श्रीमती) निर्मला जैन

विभागीय सहयोग
हीरालाल बाछोतिया

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

नवम्बर 1993
कार्तिक 1915

P D 15T OP

प्रकाशन सहयोग

सी.एन. राव : *अध्यक्ष,* प्रकाशन विभाग

प्रभाकर द्विवेदी : *मुख्य संपादक*
पूरनमल : *संपादक*
ओमप्रकाश : *सम्पादन सहायक*

यू. प्रभाकर राव : *मुख्य उत्पादन अधिकारी*
डी.साईं प्रसाद : *उत्पादन अधिकारी*
डी.के. शेन्डे : *वरिष्ठ कलाकार*
विकास.ब. मेश्राम : *सहायक उत्पादन अधिकारी*
राजेश पिप्पल : *उत्पादन सहायक*

दिलीप कुमार शेन्डे

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस	सी.डब्ल्यू.सी. कैम्पस	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्ल्यू.सी. कैम्पस
श्री अरविंद मार्ग	चितलापक्कम, क्रोमपेट	डाकघर नवजीवन	32, बी.टी. रोड, सुखचर
नई दिल्ली 110016	**मद्रास 600064**	**अहमदाबाद 380014**	**24 परगना 743179**

रु. 10.00

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा शगुन कम्पोजर्स, 92-बी, कृष्णा नगर, गली नं. 4, नई दिल्ली 110 022 द्वारा कंपोज होकर सुप्रीम आफसेट प्रिंटर्स, के-5, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017 में मुद्रित।

प्राक्कथन

विद्यालय शिक्षा के सभी स्तरों के लिए अच्छे शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की दिशा में हमारी परिषद् पिछले तीस वर्षों से कार्य कर रही है। हमारे कार्य का प्रभाव भारत के सभी राज्यों और संघशासित प्रदेशों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा है और इस पर परिषद् के कार्यकर्ता संतोष का अनुभव कर सकते हैं।

किन्तु हमने देखा है कि अच्छे पाठ्यक्रम और अच्छी पाठ्यपुस्तकों के बावजूद हमारे विद्यार्थियों की रुचि स्वतः पढ़ने की ओर अधिक नहीं बढ़ती। इसका एक मुख्य कारण अवश्य ही हमारी दूषित परीक्षा-प्रणाली है, जिसमें पाठ्यपुस्तकों में दिए गए ज्ञान की ही परीक्षा ली जाती है। इस कारण बहुत ही कम विद्यालयों में कोर्स के बाहर की पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। लेकिन अतिरिक्त-पठन में बच्चों की रुचि न होने का एक बड़ा कारण यह भी है कि विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के लिए कम मूल्य की अच्छी पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में इस कमी को पूरा करने के लिए कुछ काम प्रारंभ हुआ है पर वह बहुत ही नाकाफी है।

इस दृष्टि से परिषद् ने बच्चों की पुस्तकों के रूप में लेखन की दिशा में एक महत्वाकांक्षी योजना प्रारंभ की है। इसके अन्तर्गत, "पढ़ें और सीखें" शीर्षक से एक पुस्तकमाला तैयार की जा रही है जिसमें विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के लिए सरल भाषा और रोचक शैली में

अनेक विषयों पर बड़ी संख्या में पुस्तकें तैयार की जाएँगी। हम आशा करते हैं कि शीघ्र ही निम्नलिखित विषयों पर हिन्दी में अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर सकेंगे।

क. शिशुओं के लिए पुस्तकें
ख. कथा साहित्य
ग. जीवनियाँ
घ. देश-विदेश परिचय
ङ. सांस्कृतिक विषय
च. वैज्ञानिक विषय
छ. सामाजिक विज्ञान के विषय

इन पुस्तकों के निर्माण में हम प्रसिद्ध लेखकों, अनुभवी अध्यापकों और योग्य कलाकारों का सहयोग ले रहे हैं। प्रत्येक पुस्तक के प्रारूप पर भाषा, शैली और विषय-विवेचन की दृष्टि से सामूहिक विचार करके उसे अंतिम रूप दिया जाता है।

परिषद् इस माला की पुस्तकों को लागत-मूल्य पर ही प्रकाशित कर रही है ताकि ये देश के हर कोने तक पहुँच सकें। भविष्य में इन पुस्तकों को अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराने की भी योजना है।

हम आशा करते हैं कि शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के क्षेत्र में किए गए कार्य की भाँति ही परिषद् की इस योजना का भी व्यापक स्वागत होगा।

प्रस्तुत पुस्तक **भीखाई जी कामा** के लेखन के लिए श्रीमती निर्मला जैन ने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया जिसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। जिन-जिन विद्वानों, अध्यापकों और कलाकारों से इस पुस्तक को अंतिम रूप देने में हमें सहयोग मिला है उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिंदी में "पढ़ें और सीखें" पुस्तकमाला की यह योजना प्रोफेसर अर्जुन देव के मार्ग-दर्शन में चल रही है। उनके सहयोगियों में डॉ. रामजन्म शर्मा, डॉ. सुरेश पांडेय, डॉ. हीरालाल बाछोतिया और डॉ. अनिरुद्ध राय सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। विज्ञान की पुस्तकों के

लेखन का कार्य हमारे विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग के डॉ. रामदुलार शुक्ल देख रहे हैं। मैं अपने सभी सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद और बधाई देता हूँ।

इस माला की पुस्तकों पर बच्चों, अध्यापकों और बच्चों के माता-पिता की प्रतिक्रिया का हम स्वागत करेंगे ताकि उनसे इन पुस्तकों को और भी उपयोगी बनाने में हमें सहयोग मिल सके।

के० गोपालन
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
अगस्त 1993

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।



विषय-क्रम

1

आरम्भिक जीवन और शिक्षा

भीखाई जी कामा का जन्म बम्बई के एक समृद्ध पारसी परिवार में 24 सितम्बर सन् 1861 ई. को हुआ। इसी वर्ष भारत में दो और ऐसे बच्चों ने जन्म लिया जिन्होंने बड़े होकर अलग-अलग क्षेत्रों में मातृभूमि का गौरव बढ़ाया और देश के इतिहास पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। इनमें से एक थे आगरा के एक कश्मीरी पंडित परिवार में जन्मे मोतीलाल नेहरू और दूसरे कलकत्ता के एक सुसंस्कृत बंगाली परिवार में जन्मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

बम्बई के जिस सम्पन्न व्यापारी पारसी परिवार में भीखाई जी ने जन्म लिया उसके बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है किन्तु उसकी सम्पन्नता के बारे में कोई संदेह नहीं है। भीखाई जी के पिता थे सोराबजी फ्रामजी पटेल और माँ का नाम था जीजी बाई। परिवार की व्यापारी पृष्ठभूमि को देखते हुए यह अनुमान लगाना कठिन था कि इस वातावरण में जन्म लेने वाली भीखाई जी बड़ी होकर ब्रिटिश राज के विरुद्ध भारत की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाली पहली क्रान्तिकारी महिला सिद्ध होंगी।

भीखाई जी की शिक्षा जिस स्कूल में हुई (**एलेक्जेन्ड्रा गर्ल्स एजुकेशन इंस्टीट्यूशन**) उसे आज की तरह भारत में तब भी लड़कियों की शिक्षा के लिए सर्वोत्तम संस्था माना जाता था। भीखाई जी ने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा वहीं पाई। उन्हें जैसे अपने भविष्य का पूर्वाभास हो

गया था। शायद इसीलिए उन्होंने लगन से यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन कर उनमें कुशलता हासिल कर ली।

सोराबजी की विशाल सम्पत्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने एक न्यास की स्थापना करके उससे हर बेटे को 13 लाख की और हर बेटी को एक लाख की राशि दी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस समय इस राशि का मोल क्या रहा होगा।

भीखाई जी के भाई आर्देशिर पटेल ने अपने पिता की व्यापार-बुद्धि विरासत में पाई। उन्होंने अपार धनार्जन किया। उन्होंने बम्बई में अनेक दान-संस्थाओं और एक पारसी 'अगियारी' (**अग्नि मंदिर**) की स्थापना की।

1902 ई. में इलाज के लिए विदेश जाते समय माँ जीजी बाई ने खानदानी जेवरात-जवाहरात का बहुत बड़ा हिस्सा अपनी लाडली बेटी भीखाई जी को सौंप दिया। उन्हें उस समय क्या मालूम था कि आगे चलकर इस कुलागत सम्पत्ति का उपयोग किस रूप में होगा। देश की स्वाधीनता के प्रति समर्पित भीखाई जी ने अपने वैयक्तिक गहनों को भी निस्वार्थ भाव से बेचकर देश के लिए उनका उपयोग करने में संकोच नहीं किया।

2

परिवेश और परिवार

सौभाग्य से भीखाई जी का जन्म जिस समाज में हुआ था वह प्रगतिशील माना जाता था। उसमें स्त्रियों की शिक्षा और स्वाधीनता को समर्थन और प्रोत्साहन दिया जाता था।

पारसियों को समान्य रूप से ब्रिटिश राज्य का पक्षधर माना जाता था। उस समय के भारत का पारसी समाज पश्चिम के रंग में सबसे अधिक रँगा हुआ था। यह कहना गलत न होगा कि भीखाई जी का पालन-पोषण एक ऐसे समृद्ध परिवार में हुआ, जिसमें विक्टोरिया-कालीन इंग्लैंड के सभी साज-सामान और सामाजिक तौर-तरीके प्रचलित थे। यहाँ तक कि और तमाम बातों के अलावा पारसी लड़कियों को उनकी मर्जी या नामर्जी से अंग्रेज़ शिक्षिकाओं की सतर्क दृष्टि के तहत पिआनो सीखने और उसका रियाज़ करने पर मजबूर किया जाता था।

पारसी समाज के सार्वजनिक जीवन में स्त्री-पुरुषों के बीच उन्मुक्त रूप से मेलजोल को प्रोत्साहित किया जाता था। इस बात में सन्देह नहीं कि भीखाई जी की असामान्य सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता और सार्वजनिक मामलों की जानकारी और दिलचस्पी के निर्माण में इस माहौल का बहुत योगदान था। छोटी सी उमर में ही उन्होंने सामाजिक दृष्टिकोण का विकास कर लिया था और उनके राजनीतिक विचार निश्चित हो चुके थे।

भीखाई जी का बचपन बहुत सुरक्षित था। प्रायः घटनाशून्य था।

पर उन पर कोई रोक टोक नहीं थी। उनके सुरक्षित लालन-पालन की हाथी दाँती मीनारें उनके भीतर पलती जिज्ञासु और पैनी बुद्धि और विद्रोही चेतना को कैद नहीं कर सकीं।

यह दिलचस्प है कि भीखाई जी पर इस वातावरण और पारसी समाज की अंग्रेज़ियत का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ा। अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपीय भाषाओं में उनकी गति थी। वेशभूषा में वे फैशनपरस्त थीं। स्वदेशी और विदेशी समाज से वे उन्मुक्त भाव से मिलती-जुलती थीं। फिर भी इस बात का कोई खतरा पैदा नहीं हुआ कि ये अंग्रेज़ महिलाओं की भद्दी नकल दिखायी पड़ने लगें। युवावस्था में ही उन्होंने अपने निजी व्यक्तित्व का निर्माण कर लिया था। मातृभूमि के प्रति उनके मन में उत्कृष्ट प्रेम था। भारतीय संस्कृति, विरासत और भाषाओं पर उन्हें गर्व था। अंग्रेज़ों ने उनके देश के साथ जो कुछ भी किया था उसका उन्हें पूरा बोध था। वे सही अर्थ में सच्ची भारतीय थीं जिन पर पश्चिमी सभ्यता के बाहरी रूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ सका।

उनके बचपन के चित्रों को देखकर पेरिस निवासी श्री शियाबक्ष एस. कूपर ने कहा था "वे असाधारण सुन्दरी थीं।" एक अन्य पारसी सज्जन श्री बी. बरूचा ने अपने एक भाषण में पुरानी स्मृतियों का हवाला देते हुए चर्चा की कि क्रिकेट के खेल में भीखाई जी की बल्लेबाजी के सामने वे कैसे गेंद फेंका करते थे, और यह भी कि वे अच्छी खिलाड़ी थीं। इस बात से यह जानकारी मिलती है कि अपने परम्परामुक्त उत्साही स्वभाव के कारण उन्होंने कैसे क्रिकेट के उस खेल में भागीदारी की जो उस समय पुरुष वर्ग का विशेषाधिकार समझा जाता था।

भीखाई जी का जन्म सन् 1857 की सैनिक क्रान्ति के केवल चार वर्ष बाद हुआ था। बचपन जिस वातावरण में बीता और परवान चढ़ा उसमें अवज्ञा और स्वाधीनता की नयी चेतना व्याप्त थी। अंग्रेज़ों की दमनकारी नीतियों ने क्रान्ति की ज्वाला और उत्साह को और भड़काया।

महाराष्ट्र में तिलक के और बंगाल में अरविन्द घोष के नेतृत्व में गुप्त सभाओं का गठन हो रहा था। अवज्ञा और राष्ट्रभक्ति की इस नयी लहर का तात्कालिक प्रभाव भीखाई जी के युवा मानस पर पड़ा। यह सरगर्मी, युवती भीखाई जी की चेतना और मिजाज़ के बहुत अनुकूल थी और उनके भविष्य के निर्माण में इस वस्तुस्थिति का गहरा प्रभाव रहा। भीखाई जी घर की चारदीवारी के बाहर की उत्तेजनापूर्ण घटनाओं से अछूती नहीं रह सकीं। यह कहना ज्यादा सही होगा कि इस वातावरण ने उनके जीवन की दिशा ही मूलतः बदल दी।

3

विवाह और परवर्ती जीवन

भीखाई जी के पिता ने अपनी लाड़ली बेटी का विवाह बम्बई के एक अत्यन्त धनाढ्य और प्रसिद्ध परिवार में तय किया। प्रसिद्ध प्राच्यवेत्ता प्रो. खुर्सेदजी रुस्तमजी कामा उनके श्वसुर थे। वे प्रख्यात विद्वान और स्वभाव से अत्यन्त उदारमना, स्नेही और मिलनसार व्यक्ति थे। भीखाई जी उनकी बड़ी प्रशंसक थीं। उनके ज्ञान और विद्वता के प्रति वे बराबर आदर व्यक्त करती रहीं।

खुर्सेद जी ने आरम्भ में अपना पारिवारिक व्यवसाय स्वीकार किया। उन्होंने चीन और यूरोप की यात्रा की, तदुपरान्त व्यापार करना छोड़ दिया। एक वर्ष विदेश में रहकर उन्होंने प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वानों से 'अवेस्ता' (जोरस्त्रियों के धर्मग्रन्थ) का अध्ययन किया। इन विद्वानों में पेरिस में बसे प्राच्य विद्या विशारद जर्मन विद्वान जूनियस वॉन मोहल और जर्मनी के ही स्पेगल का नामोल्लेख मिलता है। इंग्लैंड की यात्रा के दौरान उन्हें दादाभाई नौरोजी के सत्संग का सुयोग मिला। दादाभाई नौरोजी नवसारी के एक पुरोहित परिवार के सदस्य थे। उन्होंने खुर्सेद जी को जोरोस्त्रियन मत के अनेक सिद्धान्तों से परिचित कराया। अपने संक्षिप्त विदेश-प्रवास में ही खुर्सेद जी ने अपनी कुशाग्र बुद्धि और गहन स्मरण शक्ति के बल पर इतना हासिल कर लिया कि बम्बई लौटकर वे अपने आप पश्चिमी ढंग से 'अवेस्ता' और 'पहलवी' (ई. पू. 300 के उपरान्त प्रचलित फारसी का देशी भाषा

रूप) विषयक अध्ययन जारी रख सकें। उनके चारों ओर विलक्षण प्रतिभाशाली युवा पादरियों का वर्ग एकत्र होने लगा और उनके अध्यापन की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। आज भी "कामा प्राच्य विद्याध्ययन संस्थान का बम्बई में ऐतिहासिक स्थान है।"

भीखाई जी के पति रुस्तमजी कामा उम्र में उनसे केवल एक वर्ष बड़े थे। उनमें वे सब गुण थे जिनकी कामना कोई लड़की कर सकती है। वे सुदर्शन थे, अमीर थे, सुशिक्षित बैरिस्टर थे और एक प्रसिद्ध प्रगतिशील परिवार के कुल-दीपक थे।

सन् 1885 का भीखाई जी कामा के जीवन में ऐतिहासिक महत्व है। इस साल उनके जीवन में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। 3 अगस्त को उनका विवाह हुआ और इसी वर्ष उमेश चन्द्र बैनर्जी की अध्यक्षता में दिसम्बर में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन सम्पन्न हुआ। अधिकांश महिलाओं के जीवन में, विशेष रूप से उस समय के समाज को देखते हुए, विवाह की घटना का महत्व अधिक होना चाहिए था। इसलिए और भी कि भीखाई जी का विवाह एक विशिष्ट युवक से हुआ था। उस समय, भीखाई जी की समानधर्मी अधिकांश युवतियाँ उससे बेहतर जीवन-साथी की कल्पना और आशा नहीं कर सकती थीं। उन्होंने अपने गृहिणी सुलभ कर्त्तव्यों और सामाजिक दायित्वों की पूर्ति करने में ही जीवन की सार्थकता पा ली होती। पर भीखाई जी की बात कुछ और थी। उनका विवाह एक 'आदर्श' व्यक्ति से हुआ था। पर उन्हीं के शब्दों में उनका गठबन्धन साथ ही "अपने देशवासियों की सामाजिक और राजनीतिक उन्नति से" भी हो गया था। अन्ततः उनके जीवन में यही संबंध अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने एक सपना देखा...विदेशी दासता से मुक्त स्वतन्त्र भारत का सपना। यही सपना उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। इस स्वप्न को पूरा करने में भीखाई जी को जिस मानसिक और भावात्मक अन्तर्द्वन्द्व का सामना करना पड़ा होगा, उसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। उनका बचपन जिस परिवार में बीता था उसमें न

सुन्दर कलात्मक उपकरणों की कमी थी और न ही विशाल परिवार और मित्र मण्डली से प्राप्त स्नेह और आत्मीयता की। ऐसे माहौल में जीवन के रमणीय और स्त्री-सुलभ आकर्षणों, सुख-सुरक्षा के साधनों और आमोद-प्रमोद के सम्मोहन से पूरी तरह बचाव कठिन था। परन्तु भीखाई जी के अन्तर्मन में बेचैनी थी, एक ऐसा शक्ति-स्रोत था जिसने उनका चैन भुला दिया।

तानाशाही विदेशी शासन की चक्की में पिसती असहाय भारतीय जनता की गरीबी, भुखमरी और पीड़ा का भीखाई जी के मन पर गहरा असर पड़ा था। उनके भीतर एक ऐसे समर्पित समाज-सेवी ने जन्म लिया जिसने पहले नारियों की स्थिति में सुधार के लिए और फिर अनथक रूप से राजनीतिक कार्यकलाप के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। परिणामतः वे अपने गृहस्थ जीवन के प्रति उदसीन होती गयीं। क्रमशः एक घरेलू महिला के स्थान पर कर्मठ समाज्सेवी भीखाई जी का उदय हुआ।

भीखाई जी के विचार अपने पति के राजनीतिक विचारों से मेल नहीं खाते थे। सामाजिक जीवन में उनके पति की कोई रुचि नहीं थी। अपने रूढ़ राजनीतिक विचारों के कारण वे ब्रिटिश राज की उदारता के विश्वासी और हिमायती थे। उनका ख्याल था कि भरत का हित इसी में है कि ब्रिटिश शासन यहाँ सौ साल और बना रहे। परस्पर मतभेद के कारण भीखाई जी का वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रहा। पति से उनके संबंधों में दरार आ गयी। उनके बीच तलाक नहीं हुआ पर कुछ ही वर्षों में वे अलग हो गए। भीखाई जी ने इसके लिए कभी अपने पति को दोषी नहीं ठहराया। इस संबंध में भीखाई जी का रुख बहुत ही सही था। उन्होंने ईमानदारी से इस बात को समझा और स्वीकार भी किया कि इस पूरे मामले में अधिक दोष उनका ही है। फिर भी उनके पति ने उन्हें कभी क्षमा नहीं किया। यहाँ तक कि भीखाई जी की मृत्यु के अवसर पर वे उनके अंतिम संस्कार में भी शामिल नहीं हुए।

सन् 1896 में बम्बई में महामारी फैली। हजारों निर्धन लोग प्लेग के शिकार हो गए। भीखाई जी अपने ऐशो-आराम भरे घर को छोड़कर सफेद एप्रेन पहनकर बम्बई की गंदी वस्तियों में वीमार निर्धन जनता की सेवा में जुट गयीं। पारसी पंचायत द्वारा संचालित एक सार्वजनिक अस्पताल में उन्होंने प्लेग के मरीजों की सेवा आरम्भ कर दी। उस समय तक प्लेग के टीके का आविष्कार नहीं हुआ था। भीखाई जी ने जिस तरह अपनी जान पर खेल कर उस भयंकर महामारी में निर्धन जनता की सेवा की, उसकी तुलना फ्लोरेंस नाइटिंगेल के आत्मत्याग की भावना से की जाती है। यह बात अलग है कि उनकी इस निस्वार्थ सेवा और गरीब जनता के प्रति उनके :म सहानुभूतिपूर्ण रवैये को उनके परिवार और पति का समर्थन नहीं मिला।

उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि के लिहाज से यह कार्य अभूतपूर्व था। स्वयं उनका और उनकी ससुराल का. ..दोनों परिवार इस बात से आहत हुए और उन्होंने इसे अपनी बदनामी का कारण भी समझा। शायद वे साहसी भीखाई जी के अलावा अपनी सुरक्षा की चिन्ता से भयभीत थे। जहाँ तक भीखाई जी का प्रश्न था, यह उनके असाधारण, आवेगमय स्वभाव का सहज रूप था। ऐसे प्रसंग मानो उनके आगामी घटनापूर्ण और साहसिक जीवन का पूर्वाभास थे।

भीखाई जी के लिए यह नए जीवन की शुरुआत थी। वे दलित पीड़ित साधनहीन निर्धन जनता की सेवा में गंभीर रूप से जैसे-जैसे संलग्न होती गयीं वैसे-वैसे उनके पारिवारिक जीवन की खाई बढ़ती गयी। सन् 1901 में उन्होंने परिवार को छोड़ने का निर्णय ले लिया। उनके घटनापूर्ण क्रान्तिकारी जीवन का आरम्भ यहीं से हुआ। बाद में उनके कार्यकलाप का क्षेत्र अनेक देशों तक व्यापक रूप से विस्तृत होता गया।

4

प्रवासी जीवन और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का निर्माण

सन् 1902 में भीखाई जी भयंकर रूप से बीमार पड़ गईं। उसी वर्ष उन्हें इलाज और ऑपरेशन के लिए विदेश जाना पड़ा। किसे मालूम था कि मातृभूमि से उनकी विदाई का अन्त 35 वर्ष के लम्बे प्रवास में होगा और इस प्रवास के दौरान वे भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में अपने लिए गौरवशाली स्थान बनाएँगी। उसके बाद का उनका जीवन लगभग रोमांचक कहानी प्रतीत होता है।

इस कहानी का आरम्भ उनके इंग्लैंड पहुँचने से होता है। शुरुआत सीधी सादी थी। सफल ऑपरेशन और चिकित्सा के बाद उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया और वे लंदन के होलबोर्न क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित परिवार के साथ 'पेइंग गेस्ट' के रूप में रहने लगीं। परम्परागत वैवाहिक जीवन से उन्हें सुख नहीं मिला। वे दिशा की तलाश करने लगीं। समाज-सेवा का मार्ग खोजने लगीं। उन्हें ऐसे लक्ष्य के लिए निस्वार्थ कार्य करने के सुख का अनुभव था। वे 1902 से 1907 तक इंग्लैंड में रहीं। उस समय वहाँ मौजूद अनेक महत्वपूर्ण भारतीयों में से वरिष्ठ नेता दादाभाई नौरोजी थे। जीवन के इस मोड़ पर भीखाई जी का सम्पर्क दादाभाई नौरोजी से हुआ। वे उनके अपने समाज के श्रद्धास्पद व्यक्ति थे, भारतभूमि के सम्मान्य वृद्ध पुरुष थे। ध्यान देने

योग्य बात यह है कि श्रीमती कामा के इंग्लैंड पहुँचने से छः वर्ष पूर्व 1896 ई. से सरोजिनी नायडू भी वहीं थीं पर उन्होंने उस समय किसी राजनीतिक आंदोलन में भाग नहीं लिया था। इसके विपरीत श्रीमती कामा ने इंग्लैंड में एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाया। उस देश की भूमि पर पाँव रखते ही वे स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय भाग लेने लगीं। उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज के विरुद्ध सक्रिय प्रचार किया।

इंग्लैंड में भीखाई जी कामा ने अपना राजनीतिक जीवन कांग्रेस के संयमी नेता दादाभाई नौरोजी की देखरेख में आरम्भ किया। उन्होंने ब्रिटेनवासियों को कांग्रेस की नीतियों से परिचित कराया।

इंग्लैंड प्रवास के आरम्भिक दिनों में उनके विचारों और कार्यकलाप पर इटली के महान क्रान्तिकारी नेता मेजिनी का प्रभाव पड़ा। जैसे-जैसे उनकी दृष्टि व्यापक हुई, उन्होंने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की पेचीदगियों को सारे विश्व के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों के प्रकाश में समझना शुरू किया। इसी पृष्ठभूमि में उन्होंने नीतियों के संबंध में (कांग्रेस के भीतरी) संघर्ष को समझा। आश्चर्य नहीं कि श्रीमती कामा ने गोखले के नेतृत्व में सक्रिय नरमपंथियों के विरुद्ध बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, और लाला लाजपतराय का समर्थन किया। भीखाई जी इस तरह 'याचिका' केन्द्रित राजनीति से हटकर उन युयुत्सु उग्रवादियों की श्रेणी में शामिल हो गयीं जो भारत में कांग्रेस के आंदोलन के बीच एक अलग वर्ग के रूप में उभर कर सामने आ रहे थे। लंदन में श्यामजी कृष्णवर्मा और राना जी के साथ उनकी वैचारिक सहमति थी।

भीखाई जी का सरोकार केवल भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष तक सीमित नहीं रहा। उनकी चिन्ता विश्वजनित थी। साम्राज्यवाद-विरोधी एकता के प्रति उनके विश्वास ने उन्हें भारत की भौगोलिक सीमा के आगे देखने के लिए प्रेरित किया। उनके इस दृष्टिकोण के कारण उनके विचारों और क्रियाकलाप में मौलिक परिवर्तन घटित हुआ। परिणामतः वे पहले फ्रांस की समाजवादी प्रजातांत्रिक पार्टी में शामिल

हुई और उसके बाद उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा अपना ली। सेकेण्ड इंटरनेशनल सभा के बाद वे लेनिन की कट्टर समर्थक हो गईं।

भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में, लंदन में बसे भारतीय क्रान्तिकारियों के इस 'त्रिक' का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। इन्हीं लोगों ने विदेश में अनेक क्रान्तिकारियों को प्रशिक्षित किया और भारतीय क्रान्तिकारियों को अस्त्र-शस्त्र उपलब्ध कराए। पं. कृष्णवर्मा द्वारा सम्पादित पत्र 'द इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में यूरोप के बुद्धिजीवियों और प्रजातान्त्रिक मानसिकता के लोगों की दिलचस्पी पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। राना जी और श्रीमती कामा इस मासिक पत्रिका के नियमित लेखक थे। अपने कार्यकलाप से वे विश्व के अन्य क्रान्तिकारियों के निकट आ गए।

1905 में पं. कृष्णवर्मा ने 'इण्डियन होम रूल सोसाइटी' की स्थापना की और श्रीमती कामा उसकी प्रवक्ता हो गयीं। इस सोसाइटी के तीन लक्ष्य थे : (1) भारत में 'होम रूल' की स्थापना करना, (2) हर व्यावहारिक साधन द्वारा संयुक्त राज्य ब्रिटेन में इस लक्ष्य के पक्ष में प्रचार, (3) भारत की जनता में राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता की खूबियों का प्रचार-प्रसार।

'होम रूल सोसाइटी' और 'द इण्डियन सोशियालॉजिस्ट' से श्रीमती कामा का निकट संबंध था। स्वभावतः इस पत्रिका में प्रकाशित विचारों से उनकी सहमति थी। इस पत्रिका ने अनेक स्वाधीनता सेनानियों और क्रान्तिकारियों को कांग्रेस के बारे में अपना दृष्टिकोण बदलने के लिए प्रेरित किया। सर हेनरी कॉटन ने दादाभाई नौरोजी और अन्य लोगों को डेमोक्रेटिक कांग्रेस की उस सभा में सम्मिलित होने के लिए कड़ी फटकार लगायी जिसमें भारत में 'होम रूल' के पक्ष में एक प्रस्ताव पारित किया गया था। साथ ही इण्डिया हाउस के उद्घाटन समारोह में सम्मिलित होने के लिए भी। श्यामजी ने इस घटना का हवाला देते हुए लिखा "यह आश्चर्य की बात है कि ऐसी

स्थिति में श्री दादाभाई नौरोजी या कोई भी आत्माभिमानी, भारतीय इंडियन नेशनल कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी में सर हेनरी कॉटन जैसे आदमी के साथ काम करते रहना गवारा कर सकता है।"

इस टिप्पणी से इस बात की जानकारी मिलती है कि श्रीमती कामा ने किन कारणों से कांग्रेस को छोड़कर क्रान्तिकारियों का साथ देना स्वीकार कर लिया था।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के सन् 1857 के संघर्ष का पहला वार्षिकोत्सव ब्रिटेन में 1905 में मनाया गया। श्रीमती कामा ने इस समारोह की अध्यक्षता की।

अनेक राष्ट्रवादी और देशभक्त भारतीय इंडिया हाउस में एकत्रित होकर भारत संबंधी क्रान्तिकारी योजनाओं पर विचार करके कार्यक्रम निर्धारित करते थे। सावरकर के लंदन पहुँचने के बाद इन गतिविधियों में सरगर्मी पैदा हुई, इस प्रसंग में भी श्रीमती कामा की भूमिका महत्वपूर्ण थी। उनके विचारों ने युवा क्रान्तिकारियों को अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए अपने को समर्पित करने और ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार और प्रेरित किया। तत्कालीन यूरोप में शायद ही कोई ऐसा क्रान्तिकारी हो जो उनसे मिला न हो या उनसे प्रभावित और प्रेरित न हुआ हो।

सन् 1905 से 1911 के बीच भारत में क्रान्तिकारी गतिविधियों में तेज़ी आ गयी थी। बंगाल और पंजाब में अशान्ति थी। विदेशी शासकों के दमनचक्र से उत्तेजित होकर जनता ने शस्त्र उठाना आरम्भ कर दिया था। प्रतिक्रियास्वरूप बम और रिवाल्वर का प्रयोग प्रायः किया जाने लगा था। जनता का एकमात्र लक्ष्य था 'स्वराज' की स्थापना। भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा थी हथियारों की कमी। श्रीमती कामा को अपने भारतीय भाइयों की इस बाधा की बखूबी जानकारी थी। वे खिलौनों में छिपाकर उनके लिए अस्त्र और रिवाल्वर मुहैय्या कराती रहीं।

वे सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखने वाले संगठन 'अभिनव भारत'

की सक्रिय सदस्या थीं। संघर्ष के इस रास्ते के प्रति अपनी गहरी आस्था को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहाः

> "मैं इन पद्धतियों के बारे में इसलिए बोलना चाहती हूँ क्योंकि अब और चुप रहना मेरे लिए मुमकिन नहीं है। हमारे देश में भयंकर अत्याचार का बोलबाला है। भारी संख्या में लोगों के देश निकाले की खबरें दी जा रही हैं। हमें सभी शान्तिपूर्ण साधनों से वंचित कर दिया गया है।"
>
> "आप में से कुछ लोगों का ख्याल हो सकता है कि महिला होने के नाते मुझे हिंसा का विरोध करना चाहिए। पर स्वतन्त्रता का मूल्य तो चुकाना ही पड़ेगा। ऐसा कौन सा राष्ट्र है जिसने मूल्य चुकाए बिना स्वाधीनता हासिल कर ली हो?"
>
> "हिन्दुस्तानियो ! हमारी क्रान्ति पावन है। मेरी कामना है कि हमारा देश जल्दी मुक्त हो। मेरे जीवन की एकमात्र आकांक्षा अपने देश को मुक्त और संगठित देखना है। मैं युवकों से याचना करती हूँ कि आप सही अर्थ में स्वराज के लक्ष्य की ओर प्रयाण करें। हमारा आदर्श हो : हम सब भारत के लिए, भारतवासियों के लिए हैं।"

इस घोषणा से भारत के भविष्य के बारे में, संगठित और स्वतंत्र भारत के बारे में, भीखाई जी की परिदृष्टि का स्पष्ट बोध होता है। लंदन में आयोजित सभाओं में श्रीमती कामा अपने भारतीय साथियों से बार-बार इस बात की अपील करती रहीं कि वे स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए हर संभव तरीके का इस्तेमाल करें। भारत की स्वाधीनता उनकी एकमात्र आकांक्षा थी। श्रीमती कामा का दृढ़ विश्वास था कि भारत की स्वाधीनता के लिए हिंसक सशस्त्र विद्रोह पूर्णतः न्यायसंगत है। 'भारत के हिन्दू-मुस्लिम संबंध' पर विचार करने के लिए लंदन में भारतीय समाज की एक बैठक हुई। इस बैठक में श्रीमती कामा ने जिस झण्डे के नीचे भाषण दिया उस पर 'स्वदेश' और 'वन्देमातरम्' लिखा था। उन्होंने भारतीय मुसलमानों की प्रशंसा उनकी लड़ने की

क्षमता के लिए की। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता की वकालत करते हुए स्पष्ट किया कि भारत की अखण्डता का यही एकमात्र उपाय है। इसी मंच से उन्होंने घोषणा की "बलप्रयोग और हिंसा अब अनिवार्य है और इनके प्रयोग के बिना मुक्ति एक स्वप्न और ढोंग मात्र है।"

श्रीमती कामा के इस संदेश की अभिव्यक्ति शीघ्र ही युवा भारतीयों के क्रान्तिकारी कार्यों के माध्यम से होने लगी। भारत में घटित क्रान्तिकारी घटनाओं से स्वाधीनता सेनानियों और देशभक्तों के सामने मानो एक नया मार्ग प्रशस्त हो गया। 15 मई 1908 को कलकत्ता की ग्रे स्ट्रीट में एक बम विस्फोट हुआ जिसमें अनेक़ लोग घायल हो गए। उसी वर्ष जून और दिसम्बर के बीच अकेले कलकत्ता शहर में बम-विस्फोट की चार और घटनाएँ हुईं।

इसी दौरान अलीपुर षड़यन्त्र केस घटित हुआ जिसमें पन्द्रह व्यक्तियों को "सम्राट के विरुद्ध युद्ध करने के लिए दोषी ठहराया गया।" सज़ा पाने वालों में बंगाल के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी वारीन्द्र कुमार घोष भी थे। 2 मई 1908 को मुज़फ्फरपुर में हुए बम-विस्फोट ने सारे देश को हिला दिया। इस घटना के बाद ब्रिटिश सिपाहियों ने क्रान्तिकारियों के शस्त्रों के गोदामों की खोज की। उन्होंने अनेक स्थानों से गोला, बारूद, बम और अन्य विस्फोटक सामान बरामद किया। इन तमाम घटनाओं से भारत में एक नई प्रवृत्ति के बल पकड़ने का संकेत मिलता है।

श्रीमती कामा, श्यामजी कृष्णवर्मा और राना जी ने भारत में इस नयी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का हर संभव तरीके से समर्थन करने का प्रयास किया।

सन् 1907 में ब्रिटिश सरकार ने स्वाधीनता के लिए भारत की पहली लड़ाई के दमन की जयन्ती मनाने का फैसला किया। दरअसल ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने यह कदम जानबूझकर इसलिए उठाया ताकि वे भारतीय जनता के राष्ट्रीय संघर्ष को बदनाम कर सकें और 1857 के इस ऐतिहासिक विद्रोह को महज "सैनिक बगावत" का नाम दे सकें।

ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीय स्वाधीनता संघर्ष को विकृत करने के प्रयास को लंदन निवासी भारतीय क्रान्तिकारियों ने चुनौती दी। उन्होंने ब्रिटेन की साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को बदनाम करने के इस प्रयास का मुँहतोड़ उत्तर देने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से श्रीमती कामा, वीर सावरकर और अन्य लोगों के नेतृत्व में उन्होंने इंग्लैंड में भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की अर्धशती मनायी।

श्रीमती कामा और उनके मित्रों तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के बीच संघर्ष का निर्णायक रूप से सूत्रपात इसी घटना से हुआ। एक ओर अपने मित्रों के साथ श्रीमती कामा थीं और दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यवादी। इन्दुलाल याज्ञिक ने श्यामजी कृष्णवर्मा की जीवनी में इस ऐतिहासिक घटना का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि इस अवसर पर एक पुस्तिका का वितरण किया गया जिसका शीर्षक था 'ओ शहीदो'। इस पुस्तिका का सार ''द टाइम्स'' में प्रकाशित हुआ। इंग्लैंड और भारत में उस पर व्यापक रूप से टिप्पणियाँ की गयीं :

> ''आज 10 मई है। हे शहीदो ! इसी दिन 1857 के अविस्मरणीय वर्ष में भारत की युद्ध भूमि पर स्वाधीनता आन्दोलन का पहला अभियान तुम्हीं ने आरम्भ किया था। मातृभूमि जाग उठी थी, अपनी अपमानजनक दासता की चेतना के प्रति जागरूक हो उठी थी। म्यान से अपनी तलवार खींचकर, उसने अपनी बेड़ियाँ तोड़ दी थीं, और अपनी स्वतंत्रता और सम्मान की रक्षा के लिए उसने पहला प्रहार किया था। इसी दिन मेरठ के सिपाही भयंकर बगावत के लिए उठ-खड़े हुए थे और उन्होंने दिल्ली की ओर कूच किया था। ''विदेशियों को निकाल भगाओ'' के उस ज्वलन्त लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए हम आज भी कृतसंकल्प हैं। 1857 की लड़ाई का अन्त तब तक नहीं होगा, जब तक क्रान्ति नहीं होती; जब तक दासता को धूल में मिलाकर, मुक्ति को सिंहासन पर

आरूढ़ नहीं किया जाता। जब भी स्वतंत्रता के लिए कोई जनान्दोलन खड़ा होता है, जब भी मुक्ति का बीज शहीदों के रक्त में फूटता है, और जब तक अपने पूर्वजों के लहू का बदला लेने के लिए एक भी सच्चा सपूत बचा रहता है, तब तक इस तरह की लड़ाई का अन्त नहीं हो सकता। क्रान्ति की लड़ाई में मुक्ति या मृत्यु के अतिरिक्त कोई विराम नहीं होता। संघर्ष की जो शुरुआत 1857 में की गयी थी, उसकी स्मृति से प्रेरित होकर हम उसे जारी करने का निश्चय करते हैं। युद्ध-स्थगन को हम युद्ध-विराम स्वीकार नहीं करते। जो लड़ाई तुमने लड़ी थी उसे हम आन्दोलन की पहली लड़ाई के रूप में स्वीकार करते हैं।''

''पचास वर्ष बीत गए, ओ 1857 की बेचैन आत्मा ! हम वायदा करते हैं अपने हृदय के रक्त से कि तुम्हारी हीरक जयन्ती तुम्हारी इच्छा पूरी किए बिना नहीं बीतेगी।''

उपर्युक्त क्रान्तिकारी इश्तहार को भारत के ऐसे अधिकांश अखबारों को भेज दिया गया जिनके स्वामी भारतीय थे और देश में इसका व्यापक प्रचार किया गया।

लाला लाजपत राय और उनके सहयोगी सरदार अजीत सिंह जैसे भारतीय देशभक्तों को निरंकुश ढंग से गिरफ़्तार करके निष्कासित करने की ब्रिटिश सरकार की कार्यवाही ने इस टकराहट को व्यापक रूप दे दिया। इस हरकत से विदेशों में बसे भारतीय क्रान्तिकारियों में देशभक्ति की आग भड़क उठी। 'द इण्डियन सोशियालॉजिस्ट' में श्रीमती कामा की आवेशपूर्ण अपील प्रकाशित हुई जिसमें अपने देशवासियों से ब्रिटिश तानाशाही के खिलाफ विद्रोह करने का आग्रह किया गया था।

लालाजी के निष्कासन के अगले ही दिन 11 मई 1907 को पेरिस के भारतवासियों ने ''लाला लाजपतराय और अजीत सिंह को बिना मुकदमा चलाये लाहौर से निष्कासित करने की ब्रिटिश सरकार की तानाशाही हरकत'' की निन्दा करने के लिए तत्काल एक सभा

बुलायी। साथ ही उन्होंने "अपने देश की सेंवा के लिए महान् और गौरवशाली त्याग करने के लिए" दोनों देशभक्तों को बधाई दी।

उस समय तक श्रीमती कामा की ख्याति "भारतीय क्रान्ति की जननी" के रूप में स्थिर हो चुकी थी। उन्होंने तत्काल भारत और विदेशों में बसे अपने देशवासियों के नाम एक भावोत्तेजक अपील जारी की। पेरिस और लंदन में श्रीमती कामा, श्यामजी कृष्णवर्मा, राना जी और अन्य नेताओं के नेतृत्व में विरोध-सभाओं का सिलसिला इसी तरह जारी रहा।

अपील में उन्होंने कहा "मुझे एक दिन यह सुनकर आघात पहुँचा कि हमारे एक साथी, एक सच्चे देशभक्त श्री लाला लाजपतराय को उनके घर से अलग करके कैद कर लिया गया।

भारत के नर-नारियो, इस अत्याचार के विरुद्ध अपना रोष प्रकट करो। मन में संकल्प करो कि ऐसी दासता में जीने के बजाय समूची आवादी का मर जाना वेहतर है।

यदि आज तुम दासता में जी रहे हो तो भारत, फारस और अरब के अतीत गौरव का बखान करने से क्या लाभ ? बहादुर राजपूतो, सिक्खो, पठानो और गोरखो, देशभक्त मराठो और बंगालियो, शक्तिशाली पारसियो और साहसी मुसलमानो, और इनके साथ ही विनम्र जैनियो और सहिष्णु हिन्दुओ...महान और शक्तिशाली जातियों की संतानो, तुम अपनी परंपरा के अनुसार जीवन क्यों नहीं बिताते ? कौन सी मजबूरी तुम्हें पराधीनता में रहने के लिए बाध्य कर रही है? वाहर निकलो स्वराज्य हासिल करके उसमें स्वतंत्रता और समानता की प्रतिष्ठा करो। स्वयं अपने लिए, अपनी संतानों के लिए, बाहर निकलो।

भाइयो और बहनो, मानव-अधिकारों की लड़ाई का निबटारा करके विश्व को दिखा दो कि पूर्व भी पश्चिम को पाठ पढ़ा सकता है।

काश मैं जेल की सलाखों को तोड़कर लाजपतराय को आजाद कर पाती.....आओ हम एक हो जायें, यदि हम सब लाजपतराय की तरह बहादुरी से बोलें, तो देखना है कि सरकार ऐसे कितने किले और जेल

बनवाएगी जिनमें हम सबको निष्कासित और कैद कर सके। हमारे पास तीन अरब जन शक्ति है। हमें केवल एकता की आवश्यकता है। भारतीयों को चाहिए कि इस संकट-काल में इसकी कमी न होने दें।

मित्रो, आत्म-सम्मान का परिचय दो। किसी भी रूप में सहयोग देने से इनकार करके इस समूचे तानाशाही तंत्र का चक्का जाम कर दो। 'वन्दे मातरम्' की प्रेरणा से भारतीय इस मौके पर एक होकर उठ खड़े हों, यही अवसर की माँग है।''

उपर्युक्त अपील 'द इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के जून अंक में प्रकाशित हुई। इसका प्रकाशन न्यूयार्क में आइरिश स्वाधीनता सेनानियों के पत्र **गाएलिक अमेरिकन** में भी हुआ। फ्रांस, जर्मनी, और स्विटजरलैंड के समाजवादी अखबारों ने इसको अनुकूल और सहानुभूतिपूर्ण टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया।

क्रमशः श्रीमती कामा क्रान्तिकारियों के बीच वाग्मी वक्ता, पत्रकार और संगठनकर्त्ता के रूप में लोकप्रिय हो गयीं। यूरोप और अमरीका में वे इसी क्रान्तिकारी के रूप में प्रसिद्ध थीं। 'द इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट,' में प्रकाशित श्रीमती कामा की यह अपील अंग्रेज़ों को पसंद नहीं आयी। उस पर पहला आक्षेप **द टाइम्स** ने शुरू किया। **द टाइम्स** जो ग्रेट ब्रिटेन की सभी सरकारों की नीतियों का अचूक मापयंत्र था। दूसरे अखबारों और पत्रिकाओं ने आश्चर्यजनक सहमति के साथ इस क्रम को जारी रखा और जल्द ही यह मसला ब्रिटिश साम्राज्य की महान अदालत **द हाउस ऑफ कॉमन्स** तक पहुँच गया।

श्रीमती कामा की इस अपील की शक्ति का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसने समूची ब्रिटिश सरकार को हिलाकर रख दिया और उसे इस मामले को 'हाउस ऑफ कॉमन्स' (लोकसभा) के सामने प्रस्तुत करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

दोनों पक्षों के बीच टकराहट अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। ब्रिटिश साम्राज्य को श्रीमती कामा में एक ऐसे अथक विद्रोही का रूप दिखायी दिया जिस पर काबू पाना उसके लिए लगभग असम्भव

था। लंदन में बसे भारतीय क्रान्तिकारी ब्रिटिश सरकार के गले की फाँस हो गए। परिणामतः ब्रिटिश सरकार ने उनके मार्ग में रोड़े अटकाने शुरू किए और भारतीय क्रान्तिकारियों के लिए वहाँ रहकर काम करना बहुत कठिन कर दिया।

श्रीमती कामा पहले ही पेरिस प्रस्थान कर चुकी थीं और वहाँ राना जी के साथ काम करने लगी थीं। ब्रिटिश सरकार ने श्यामजी कृष्णवर्मा को, 'द इण्डियन सोशियालॉजिस्ट' को बन्द करने का आदेश दिया। यह अखबार विदेशों में जारी भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का शक्तिशाली मुखपत्र था। श्यामजी को भी इंग्लैंड छोड़कर पेरिस आना पड़ा, जहाँ से वे बाद में जेनीवा चले गए।

इस प्रकार लंदन में श्रीमती कामा और उनके मित्रों के कार्यकलाप के एक सजीव अध्याय का अंत हुआ। पर इसके साथ ही श्रीमती कामा के जीवन में एक और अधिक सोद्देश्य और सार्थक दौर का आरम्भ हुआ। सन् 1907 से 1935 तक, जब वे भारत के लिए रवाना हुई, मुख्यतः पेरिस से वे भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के चरम लक्ष्य के लिए कार्य करती रहीं।

5

लंदन-प्रवास और इंडिया हाउस

श्रीमती कामा के लंदन में बिताए दिनों की सही समझ के लिए उनके चारों ओर के जीवन और वातावरण के बारे में जानकारी आवश्यक है। साथ ही यह जानना भी ज़रूरी होगा कि उनका संबंध किन लोगों से था, उन्होंने किस प्रकार के भाषण दिए, कैसे उत्तेजक लेख और पत्र लिखे, किस प्रकार की सभाओं और गतिविधियों का आयोजन किया और उनमें भाग लिया। उनके अधिकांश आरम्भिक क्रियाकलापों का केन्द्र इंडिया हाउस था।

ब्रिटेन की खुफ़िया और जासूसी एजेंसी ने 'इंडिया हाउस' को 'रहस्य घर' (द हाउस ऑफ मिस्ट्री) और 'आतंक घर' (द हाउस ऑफ टेरर) कहना बेहतर समझा। साथ ही उसे 'छत्ता' (द बी हाइव) और 'अड्डा' (डेन) जैसे उपनामों से पुकारा जाता था। ब्रिटेन के जासूसों ने इंडिया हाउस में सक्रिय गुट को 'शैतान और उसके दर्जन घृणित साथी' (डेविल एण्ड हिज़ डर्टी डज़न) कहकर लांछित किया।

65 क्रामवेल एवेन्यू में स्थित इंडिया हाउस का तिमंजिला भवन अंगूर की बेलों और घनी झाड़ियों से घिरा था। नीची चहारदीवारी और बिस्कुटी रंग की इस इमारत के रंग को सावरकर काव्यात्मक भाषा में उदीयमान सूर्य और क्रान्तिकारी लाल रंग का मेल कहा करते थे। इंडिया हाउस में 25-30 लोगों को रहने-खाने की सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था थी। वहाँ के निवासियों को परम्परागत भारतीय

भोजन दिया जाता था। एक प्रकार की गम्भीरता और रहस्यात्मकता से युक्त ब्रिटिश-विरोधी वातावरण वाले इस भवन में एक लेक्चर हॉल, पुस्तकालय और मनोरंजन कक्ष थे। प्रत्यक्ष रूप से इसका उद्देश्य था भारतीय विद्यार्थियों को रहने-खाने की सस्ती सुविधा उपलब्ध कराना। भारतीय विद्यार्थियों से मात्र 16 रुपये प्रति सप्ताह लिया जाता था। कौन जानता था कि यही इंडिया हाउस, इंग्लैंड में भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुख्यालय बनने वाला है। वस्तुतः भारत के बाहर इस प्रकार के संगठनों में यह केन्द्र सबसे अधिक भय का विषय था।

श्रीमती कामा वहाँ स्वयं रहती नहीं थीं, पर वे नियमित रूप से वहाँ आती-जाती थीं। इंडिया हाउस की साप्ताहिक बैठकों के बाद रात्रि भोजन और चर्चा के साथ सावरकर की उत्कृष्ट व्याख्याएँ सुनने के लिए भाषण-कक्ष खचाखच भरा रहता था। इन सभाओं में भाग लेने वाले ये समर्पित आदर्शवादी जिनकी भर्त्सना ब्रिटेन के उपनिवेशवादी 'हत्यारे', 'अराजकतावादी' और 'आतंकवादी' कहकर करते थे, वस्तुतः राष्ट्रवादी, क्रान्तिकारी देशभक्त थे। श्रीमती कामा ने इस युद्धधर्मी राष्ट्रवाद से पूरी तरह तादात्म्य कर लिया था। उनके सहयोगियों में इंडिया हाउस के भीतर और बाहर दोनों क्षेत्रों के कर्मठ लोग थे। इनमें एस. आर. राणा, हरदयाल, सेनापति बापट, परमानन्द, वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, एम. पी. टी. आचार्य और ऐसे ही अन्य लोग शामिल थे। उनके और श्रीमती कामा के बीच सामान्य तत्व था लक्ष्य की ऊँचाई। बहुत जल्दी इनके साथ मित्रता सही अर्थ में सहचर-भाव में विकसित हो गयी। गांधी जी 'इंडिया हाउस' और उसके निवासियों को 'उग्रवादी' और 'हिंसक पार्टी' क़हते थे। पर उन्होंने इन लोगों को "ऐसी उत्साही आत्माओं के रूप में देखा था जिनके पास ऊँचे स्तर की नैतिकता, महान बौद्धिक क्षमता और उदात्त आत्म-त्याग" की सामर्थ्य थी। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इन राष्ट्रभक्ति विषयक गतिविधियों का स्मरण करते हुए कहा है, "उन्होंने इंग्लैंड में उपस्थित तमाम भारतीयों में उथल-पुथल मचा दी थी। हम लोग प्रायः निरपवाद रूप से या तो तिलकवादी थे या उग्रवादी।"

श्रीमती कामा पूरी तरह राजनीतिक जीवन में डूब चुकी थीं। वे युवावस्था को पार कर चुकी थीं और उनका स्वास्थ्य भी विशेष अनुकूल नहीं था। इसके बावजूद, अतुलनीय शक्ति और उत्साह के साथ वे जगह-जगह घूमती रहीं। क्रान्तिकारी लक्ष्य के लिए लंदन और पेरिस दोनों नगरों से वे निरंतर कार्य करती रहीं.... पहले श्यामजी के साथ और फिर सावरकर के साथ। वे साप्ताहिक बैठकों और भाषाओं का आयोजन करते थे और इस विषय पर प्रतिदिन चर्चा करते थे। लिख और छाप कर हजारों की संख्या में क्रान्तिकारी पर्चों और पुस्तिकाओं को पैक कर अलग-अलग पतों पर इस तरह भेजना ताकि वे पकड़े न जा सकें, उनकी कार्यवाही में शामिल था। बाद में श्रीमती कामा ने अस्त्र-शस्त्र हासिल करके भेजने में भी सहयोग देना शुरू कर दिया और वे इस विस्फोटक सामग्री के उपयोग का प्रशिक्षण देने में भी सहायता जुटाने लगीं।

श्रीमती कामा में संगठन करने की योग्यता के साथ, औरों को कार्य के लिए प्रेरित करने की अद्भुत प्रतिभा थी। जब वे अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध शैली में अपने प्यारे देश की विपत्तियों और दुर्गति का विश्लेषण करती थीं तो युवा क्रान्तिकारियों को जैसे एक दिशा, एक लक्ष्य मिल जाता था। इंडिया हाउस ने श्रीमती कामा को इस प्रतिभा के उपयोग का पूरा अवसर दिया। यही वह स्थान था जहाँ भारत से शिक्षा के लिए आने वाले सर्वोत्तम विद्यार्थियों को क्रान्ति के सिद्धान्तों की दीक्षा दी जाती थी और वे देशभक्तों और शहीदों में रूपान्तरित हो जाते थे। श्रीमती कामा स्वयं इसका सजीव उदाहरण थीं। उन्होंने स्वेच्छा से इस लक्ष्य के लिए न जाने कितना कुछ बलिदान कर दिया था।

इंडिया हाउस के संस्थापक और राजनीतिक प्रचारक श्यामजी स्वयं संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे। वे हर्बर्ट स्पेन्सर का आदर अपने राजनीतिक सलाहकार के रूप में करते थे। श्यामजी के अलावा श्रीमती कामा के करीबी लोगों में उल्लेखनीय थे– प्रतिभाशाली विद्वान

हरदयाल जिन्होंने अपने देश के लिए अपनी छात्रवृत्ति त्यागकर इंग्लैंड के शैक्षिक और राजनीतिक वर्ग के लोगों में हलचल मचा दी थी, तमिल विद्वान, पत्रकार और देशभक्त एम. टी. पी आचार्य, सरोजिनी नायडू के प्रतिभाशाली भाई वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, जिन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर सुलभ अनेक विकल्पों को त्याग कर क्रान्तिकारी लक्ष्य के लिए राजनीतिक निर्वासन का चुनाव किया। वे रूस में काम करते रहे, उन्हें अपनी प्रिय मातृभूमि लौटने का सौभाग्य नहीं मिला। इन्हीं सबके साथ थे काठियावाड़ के राजपूत राज-परि के सदस्य सरदार सिंह राणा जिन्हें लंदन के न्यायालय में आमंत्रित किया गया था। बाद में उन्होंने जेवरात का व्यापार शुरू किया और "मोतियों के राजकुमार" (द पर्ल प्रिन्स) नाम से प्रसिद्ध हुए। वे श्रीमती कामा के सर्वाधिक निकट थे, और उनके कार्य में बड़ी उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता करते थे। कहना न होगा कि इन सबसे अधिक प्रतिभाशाली और ऊर्जास्वित व्यक्तित्व से सम्पन्न थे सावरकर, जो अंग्रेज़ी वर्ग के निर्विवाद नेता थे।

इंडिया हाउस में नियमित सभाओं का आयोजन किया जाता था। भारतीय पर्व मनाए जाते थे। भारतीय देशभक्तों की जन्म और मृत्यु शताब्दियाँ मनायी जाती थीं। भारत की राजनीतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाता था। इन सभी गतिविधियों में श्रीमती कामा महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थीं। वहाँ की गुप्त और महत्वपूर्ण रोमांचकारी घटनाओं के प्रति श्रीमती कामा के संवेदन-शील मन में बराबर प्रतिक्रिया होती थी। इंडिया हाउस में होने वाली गतिविधियों का कोई अन्त नहीं था, चुनौतियों का सामना करना और उनसे निबटना वे ज़रूरी समझते थे। उतना ही ज़रूरी समझते थे आज़ादी के स्वप्न को संजोकर जीवित रखना और पोषित करना।

यहीं सावरकर ने 'भारतीय स्वाधीनता की पहली लड़ाई' (फर्स्ट वार ऑफ इंडियन इंडिपेन्डेन्स) की रचना की। इस पुस्तक ने भारतीय क्रान्तिकारियों की आने वाली पीढ़ी के लिए पाठ्यपुस्तक का दर्जा

हासिल किया और साथ ही इस बात का अनोखा रिकार्ड कायम किया कि छपने से पहले ही इसे अवैध घोषित कर दिया गया। श्रीमती कामा ने आचार्य की सहायता से दूसरे संस्करण के लिए इस पूरी पुस्तक का अनुवाद फ्रेंच में किया, जो निस्सन्देह भागीरथ प्रयत्न था।

श्रीमती कामा के मन में यह बात बिल्कुल साफ़ थी कि भारतीय स्वाधीनता केवल क्रान्तिकारी तरीकों से ही हासिल की जा सकती है। अपने लेखन में वे बराबर ब्रिटिश कुशासन के, और अपने देशवासियों की कारुणिक दुर्दशा के सजीव चित्र अंकित करती रहीं। सीमाशुल्क पर इस उत्तेजक साहित्य का प्रवेश रोकने के सारे प्रयास असफल सिद्ध हुए। श्रीमती कामा न निराश हुईं और न ही उन्होंने पराजय स्वीकार की। इस प्रबल प्रचार साहित्य को उन्होंने दूसरे तरीकों से पांडिचेरी की राह से देश में पहुँचा दिया। वे जो ठान लेती थीं उसे सम्यक रूप से असाधारण साहसपूर्वक पूरा करती थीं। एक बार जब उन्होंने यह मान लिया कि हिंसा ही एकमात्र अपरिहार्य मार्ग है तो उन्होंने शस्त्रों के प्रयोग और बम बनाने में युवा क्रान्तिकारियों का प्रशिक्षण आरम्भ किया। स्टुटगार्ट में भी अपने ऐतिहासिक भाषण से उन्हें संतोष नहीं हुआ और उन्होंने झण्डा उठाकर ही दम लिया। उन्होंने यूरोप में बसे भारतीयों की गतिविधियों और 'अभिनव भारत' के पीछे सक्रिय आत्मा की भूमिका ग्रहण कर ली। इन युवा लोगों के सामने उनका ध्येय स्पष्ट था। उनकी घोषणा को श्रीमती कामा प्रायः दोहराया करती थीं कि भारत स्वतंत्र होगा, भारत गणतन्त्र होगा, हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी, देवनागरी राष्ट्रीय लिपि होगी।

इंडिया हाउस ने बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'वन्दे मातरम्' को राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार कर लिया था। इस गीत के उत्तेजक स्वर प्रायः इंडिया हाउस के कक्षों में गूँजा करते थे। हर सभा का आरम्भ इसी गीत से होता था। कहा जाता है कि उग्रवादी परस्पर अभिवादन में इन दो शब्दों का प्रयोग उसी तरह करने लगे जैसे नाज़ी ''हेल हिटलर'' का प्रयोग करते थे।

6

'क्रान्ति की जननी' : राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य

जिन महापुरुषों ने इस असाधारण महिला के जीवन के निर्माण में योगदान किया उनमें सबसे पहले व्यक्ति दादाभाई नौरोजी ही थे। भीखाई जी की राजनीतिक महत्वाकांक्षा को इस सम्पर्क से बहुत प्रोत्साहन मिला। उन्होंने ब्रिटिश 'हाउस ऑफ कॉमन्स' की सदस्यता के लिए चुनाव अभियान में सक्रिय रूप से दादाभाई की सहायता की। उन्होंने वस्तुतः उनकी सेक्रेटरी की भूमिका इख़्तियार कर ली। दादा भाई नौरोजी के व्यापक सम्पर्कों के कारण भीखाई जी को ऐसे बहुत से प्रसिद्ध भारतीयों से मिलने का सुयोग मिला जिन्होंने बाद में भारत के स्वाधीनता-संग्राम में ऐतिहासिक योग दिया।

श्रीमती कामा को भारत के लोकमान्य तिलक और अरविन्द घोष जैसे नेताओं ने बराबर प्रभावित और प्रेरित किया। वे हमेशा राजनीति-शास्त्र की उत्साही अध्येता रहीं, आश्चर्य नहीं कि उन्हें इटली के उन मुक्तिमार्गी नेताओं.....मेजिनी और गरीबाल्दी ने विशेष आकर्षित किया जो बाद में विश्व के महत्वाकांक्षी क्रान्तिकारियों के लिए प्रेरणा-स्रोत साबित हुए। मेजिनी ने आस्ट्रिया की दासता से इटली को मुक्त कराने का प्रयत्न किया था, और गरीबाल्दी ने जनता को संगठित करके राष्ट्र में एकता स्थापित की। भीखाई जी के विचारों और कार्यों

पर इन दोनों का गहरा प्रभाव पड़ा।

जैसे-जैसे भीखाई जी की राजनीतिक अन्तर्दृष्टि के क्षितिज का विस्तार होता गया वैसे-वैसे उनके मन में विश्वव्यापी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की सापेक्षता में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की समझ स्पष्ट होती गई।

उन्होंने भारत लौटने का निर्णय बदल दिया। जर्मनी, स्काटलैंड, फ्रांस आदि देशों में से प्रत्येक में लगभग एक वर्ष का समय बिताकर वे अन्ततः लंदन में बस गईं। यहाँ रहकर उन्होंने बड़ी लगन से भारत की स्वाधीनता की लड़ाई में अपने ढंग से योग देना शुरू कर दिया।

लंदन के प्रसिद्ध हाइड पार्क में प्रायः गौरवशालिनी युवती श्रीमती कामा श्रोताओं को अपने भाषणों से मंत्रमुग्ध करती दिखाई देने लगीं। अंग्रेज़ों के विरुद्ध आक्षेप लगाते हुए या भारत में उनके दुष्कर्मों का बखान करते हुए श्रीमती कामा ने कभी मुलाहिजा नहीं बरता। अपने अधीन देश की एक स्त्री के उत्तेजनापूर्ण वक्तव्य सुनकर श्रोता आश्चर्यचकित रह जाते थे। भारत की स्त्रियों के बारे में अबला, समर्पित, विनम्र, परदानशीन नारी की जो अवधारणा उन लोगों के मन में थी वह सहसा छिन्न-भिन्न हो जाती थी।

यह सही है कि दादाभाई नौरोजी ने भीखाई जी को अपने राजनीतिक अभियानों में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित किया। पर उनके जीवन को व्यावहारिक दृष्टि से दिशा देने में श्यामजी और बाद में सावरकर के उग्र व्यक्तित्व का विशेष योगदान रहा।

इंग्लैंड की क्रान्तिकारी पार्टी की नींव श्यामजी जैसे देशभक्तों ने रखी थी किन्तु उसे एक विशाल भवन का रूप तिल तिल करके श्रीमती कामा और सावरकर ने ही दिया। श्यामजी के माध्यम से उनका सम्पर्क आरम्भिक क्रान्तिकारी गतिविधियों से हुआ। उन्होंने महसूस किया कि कांग्रेस की याचनाधर्मी नीति से बात आगे नहीं बढ़ रही है। इसके साथ ही अपनी स्वभावगत अधीरता के कारण उन्होंने दादाभाई नौरोजी की पद्धति और संवैधानिक ढंग के आन्दोलनों से मुँह

मोड़ लिया। इस प्रकार एक युयुत्सु राष्ट्रवादी भीखाई जी ने जन्म लिया। इस महान् जागृति के कठिन समय में (1905-1914) गतिशील हिंसक आन्दोलन के नेतृत्व का श्रेय भीखाई जी के भाग्य में लिखा था। भारत की स्वाधीनता के पक्ष में उन्होंने लंदन, पेरिस और जेनीवा से अथक प्रचार किया जिसकी अनुगूँजें सम्पूर्ण विश्व में सुनायी दीं।

श्रीमती कामा पेरिस निवासी भारतीय राष्ट्रवादियों की निर्विवाद नेता हो गयीं। उन्हें लोग प्रायः 'भारतीय क्रान्ति की जननी' कहने लगे।

पेरिस में बसने के बाद श्रीमती कामा, पेरिस की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण महाद्वीप की राष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्र हो गयी थीं। वे पेरिस का मोर्चा उसी तरह सम्हाले हुए थीं जैसे श्यामजी और सावरकर लंदन का। पर वे अक्सर लंदन जाती थीं और सभी महत्वपूर्ण सभाओं, सम्मेलनों और समारोहों में उन लोगों के साथ रहती थीं।

ब्रिटिश सरकार की "भारत में राजनीतिक अशान्ति (1907-1917)" शीर्षक गोपनीय रिपोर्ट में श्रीमती कामा की गणना बहुत ही विशिष्ट ढंग से की गई है। इस रिपोर्ट में 24 नवम्बर 1908 को इंडिया हाउस में आयोजित एक सभा का हवाला देते हुए कहा गया है कि श्रीमती कामा ने वहाँ श्रोताओं को "बंगाल के राजनीतिक हत्यारों के आत्मबलिदान के उदाहरण का अनुसरण" करने की सलाह दी। उन्होंने हर व्यक्ति का नामोल्लेख किया और सुनने वालों ने हर नाम पर जय जयकार करके और "मौत के लिए तैयार हो जाओ" के नारों से उनकी बातों का स्वागत किया। उन्होंने रेशम और ज़री से बने एक झण्डे का प्रदर्शन किया जिस पर लिखा था, "1908 के शहीदों की याद में"।

1908 में कैक्सटन हॉल में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन में श्रीमती कामा ने 'बहिष्कार' प्रस्ताव पर अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया। इसके बाद "स्वराज" की माँग करते हुए प्रमुख प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। सावरकर ने स्वराज की परिभाषा और व्याख्या "भारत के लिए पूर्ण राजनीति स्वतंत्रता" कहकर की।

कैक्सटन हॉल वैस्ट मिनस्टर में 29 दिसम्बर को गुरु गोविन्दसिंह के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में एक और ऐतिहासिक बैठक हुई। इस अवसर की एक स्मारिका 'गुरु पर्व' पर लिया गया एक चित्र है। यह चित्र ब्रिटिश म्यूजियम के अखबारों के संग्रहालय में सुरक्षित है। और लोगों के अलावा, इस चित्र में अध्यक्ष विपिनचंद्र पाल के बायीं ओर श्रीमती कामा और उनके बायीं ओर लाला लाजपतराय बैठे हैं। इस चित्र में सबसे अधिक ध्यान देने वाली बात यह है कि सिक्खों और गैर सिक्खों में सभी ने पगड़ी पहन रखी है।

कुछ समय के बाद सावरकर और श्रीमती कामा ने अपना मार्ग श्यामजी से अलग कर लिया। उन्होंने श्यामजी के सैद्धान्तिक उग्रवाद से अलग होकर तन-मन से अपने आपको भारत की स्वाधीनता की लड़ाई के प्रति समर्पित कर दिया। उन्हें हरदयाल के रूप में एक ऐसा प्रतिभाशाली पत्रकार दिखायी दिया जिसमें साहित्यिक योग्यता और गहन निष्ठा दोनों थीं। श्रीमती कामा और हरदयाल ने सितम्बर 1909 में 'वन्दे मातरम्' निकालना शुरू किया। इस पत्रिका का आरम्भ विपिनचंद्र पाल के द्वारा कलकत्ता में आरम्भ किए गए इसी नाम के पत्र को स्मारक के रूप में, उनके लक्ष्य को जारी रखने के लिए किया गया था। कलकत्ता से प्रकाशित 'वन्दे मातरम्' जिसका संपादन बाद में अरविन्द घोष ने किया, असन्दिग्ध रूप से भारतीय स्वाधीनता का प्रभावशाली समर्थक था। इस पत्र को 1908 में अखबार अधिनियम के लागू होने पर बन्द करना पड़ा था।

इसी क्रम में चट्टोपाध्याय के सम्पादन में 'तलवार' का प्रकाशन हुआ जिसका मुद्रण हॉलैंड में किया गया। इस पत्र में ब्रिटिश शासन और उसके पालतू भारतीयों और अंग्रेज़ों के विरुद्ध व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से बल प्रयोग का समर्थन खुलकर किया गया। 'वन्दे मातरम्' की तरह ही 'तलवार' को भी कामा ने प्रोत्साहित किया।

लॉर्ड मिन्टो ने बार-बार मोरले को विदेशों से होने वाले इस प्रचार के प्रभाव के बारे में सावधान किया था। उसने कहा कि विदेशों से

आने वाला यह राजद्रोहात्मक साहित्य भारत में कितना नुकसान कर रहा है, इसका विस्तृत विवेचन करना बेकार है।

पेरिस पहुँचने के बाद राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्ष, साम्राज्यवाद और विश्वव्यापी समाजवादी आन्दोलन के विषय में श्रीमती कामा के दृष्टिकोण में बुनियादी अन्तर आ गया था। इस नयी समझ के साथ उन्होंने विविध राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलनों और अन्य देशों के क्रान्तिकारियों के साथ निजी सम्पर्क-सूत्रों और संबंधों का विकास किया। अब उनका सरोकार भारत के स्वाधीनता आन्दोलन तक ही सीमित नहीं रह गया था। पेरिस में रहते हुए श्रीमती कामा ने तुर्की, मिस्र, आयरलैंड, मोरोक्को और तमाम दूसरे देशों के राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलनों में भी उतनी ही दिलचस्पी ली। उन्होंने भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन और दूसरे देशों के राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्ष के बीच पारस्परिक संबंध की आवश्यकता को समझ लिया था। क्रमशः भीखाई जी में एक नयी विश्व-दृष्टि का विकास हो रहा था। डॉ. अविनाश चन्द्र भट्टाचार्य ने अपनी रचना 'यूरोप भारतीय विप्लवेर साधना' में इस स्थिति का चित्रण किया है। 1913 में उनकी मुलाकात पेरिस में श्रीमती कामा से हुई। इस भेंट के अवसर पर श्रीमती कामा ने उन्हें वे पत्र दिखाए जो आयरलैंड के निर्दलियों और पोलैंड, मिस्र, तुर्की और मोरोक्को के राष्ट्रवादियों ने उन्हें लिखे थे। दूसरे देशों के स्वाधीनता-सेनानियों के बहुत से पत्रों से प्रवासी भारतीय क्रान्तिकारियों ने प्रेरणा और आत्मविश्वास ग्रहण किया था। इस प्रकार श्रीमती कामा और उनके क्रान्तिकारी सहयोगी अन्तर्राष्ट्रवादी हो चले थे और समाजवादी विचारों के प्रति आकर्षित हो रहे थे।

लगभग इसी समय फरवरी 1909 में प्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारी विनायक सावरकर को नासिक-षडयन्त्र केस में फँसा लिया गया। ब्रिट्रिश सरकार उन्हें एक असाध्य केस में फँसाना चाहती थी।

1909 में विनायक सावरकर ने पेरिस से 20 ब्राउनिंग स्वचालित पिस्तौलों और गोला बारूद का एक पैकेट मँगाने की व्यवस्था की।

इस पैकेट को लंदन स्थित इण्डिया हाउस का चतुर्भुज अमीन नाम का बावर्ची एक सूटकेस के तले में छिपाकर भारत लाया। इन स्वचालित पिस्तौलों को बम्बई भेजा गया था। लेकिन इनके पहुँचने से एक सप्ताह पहले ही, विनायक सावरकर के भाई क्रान्तिकारी गणेश सावरकर बम्बई में गिरफ्तार हो गए। उनके घर की तलाशी में पुलिस के हाथ एक महत्वपूर्ण दस्तावेज लगा। इस दस्तावेज में 60 सघन टंकित पृष्ठ थे। बाद में पता लगा कि ये पृष्ठ उस बम-पुस्तिका की प्रतिलिपि थे जिसकी एक चक्रलिखित प्रति कलकत्ता के मानिकटोला गार्डन में पहले मिल चुकी थी।

इसी दौरान एक और घटना घटी। इण्डिया हाउस से संबद्ध मदन लाल धींगरा नामक एक व्यक्ति ने पहली जुलाई 1909 को इम्पीरियल इन्स्टिट्यूट, लंदन के इंडिया ऑफिस के एक राजनीतिक ए. डी. सी. कर्नल सर विलियम कर्ज़न विले की हत्या कर दी। धींगरा गिरफ्तार हो गया और 17 अगस्त 1909 को उसे फाँसी दे दी गई। मदन लाल धींगरा शायद भारत की स्वतंत्रता के लिए लंदन में शहीद होने वाले पहले भारतीय थे।

बाद में ब्रिटिश सरकार ने विनायक सावरकर पर ब्राउनिंग पिस्तौलें भारत भेजने का आरोप लगाते हुए यह दावा किया कि उन्हें इस प्रकार की पिस्तौलें भारत के विविध भागों में मिल सकती हैं, जिसमें नासिक और कलकत्ता शामिल हैं।

कहा जाता है कि चतुर्भुज अमीन ने भी, जो ये पिस्तौलें लेकर गया था, इस बात का इकबाल कर लिया कि धींगरा ने इसी तरह एक ब्राउनिंग पिस्तौल से सर कर्जन विले की हत्या की थी। चतुर्भुज सरकारी गवाह हो गया और उसने पिस्तौलें भेजने की इस योजना का जिम्मेदार यूरोपवासी क्रान्तिकारियों को ठहराया। ब्रिटिश पुलिस ने मौके का लाभ उठाते हुए राना जी और श्यामजी को इस केस में भी फँसाने की कोशिश की। इस संकट के क्षण में श्रीमती कामा ने आगे बढ़कर अतुलनीय साहस और अपने क्रान्तिकारी सहयोगियों के प्रति अचूक निष्ठा का परिचय देते हुए ब्राउनिंग पिस्तौलों को भारत भेजने

की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। यह बात साफ़ थी कि श्रीमती कामा ने ऐसा केवल क्रान्तिकारी आन्दोलन को बचाने और अपने विश्वासपात्र सहयोगियों की उस जाल से रक्षा करने के लिए किया जो ब्रिटिश पुलिस ने उन पर फेंका था। सावरकर पहले ही जेल पहुँच चुके थे। वे नहीं चाहती थीं कि राना जी भी उसी समय गिरफ्तार कर लिये जाएँ। उनकी गिरफ्तारी से उनके आन्दोलन को गंभीर धक्का लगने की आशंका थी। इसके बाद ही श्रीमती कामा ने ब्रिटिश सरकार के पंजे से सावरकर को छुड़ाने के लिए विराट संघर्ष आरम्भ किया। ब्रिटेन खुफिया ढंग से सावरकर को भारत भेजना चाहता था। किसी को जानकारी दिए बिना सावरकर को भारत ले जाने के लिए मोरिया नाम के जहाज पर भेज दिया गया। जब यह जहाज मार्सेल के पास से गुज़र रहा था सावरकर इसमें से निकल भागे और उन्होंने फ्रांस में शरण माँगी। लेकिन फ्रांसीसी अधिकारियों ने उन्हें फिर ब्रिटेन को सौंप दिया।

इस घटना से फ्रांस और ब्रिटेन की सरकारों की कार्रवाई के बारे में भयंकर विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रश्न एक ऐसे राजनीतिक कैदी के शरण पाने के अधिकार के हनन का था जिसने फ्रांस की भूमि पर कदम रख दिया था। उस फ्रांस की भूमि पर जहाँ मनुष्य की आज़ादी के लिए ऐतिहासिक लड़ाइयाँ लड़ी गयी थीं।

इस घटना के तुरंत बाद पेरिस में भारतीय क्रान्तिकारियों की त्रिमूर्ति.....श्रीमती कामा, श्यामजी और राना जी की बैठक हुई। उन्होंने इस मामले पर विचार करके इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उठाने का फैसला किया। इस लड़ाई के दौरान श्रीमती कामा यूरोप भर में संस्थाओं, समाचार पत्रों, जन-नेताओं का समर्थन और जनमत तैयार करने में सफल हो गईं। उन्होंने फ्रांसीसी समाजवादी नेता मोसियो जुआरेज़ और फ्रांसीसी राजनीतिक जीवन में सक्रिय अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों से इस मामले की चर्चा की। उन्हें इस बात का यकीन हो गया कि फ्रांसीसी पुलिस ने सावरकर को ब्रिटिश पुलिस के हवाले करके बहुत बड़ी भूल की है। उन्होंने फ्रांसीसी सरकार से इस बात

की माँग की कि वह सावरकर को फ्रांस की स्वतंत्र भूमि पर वापिस लाने की दिशा में कदम उठाए।

श्रीमती कामा ने इसी लक्ष्य के लिए फ्रांसीसी प्रेस को भी जुटाया। उनकी सहायता के लिए फ्रांस का समाजवादी तबका सबसे आगे आया। फ्रांस के प्रसिद्ध समाजवादी अखबार 'ला युमेनाइत' ने एक जोरदार लेख छापा। दूसरी ओर फ्रांस के सभी पत्र 'ला यूमेनाइत' के साथ एकजुट होकर सावरकर को लौटाने की माँग करने लगे। इस प्रकार इस मामले ने फ्रांस और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को लेकर एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर लिया।

इसी बीच सारवरकर को भारत लाकर, सैंतीस और व्यक्तियों के साथ उन पर बम्बई हाइकोर्ट में 'नासिक षडयन्त्र केस' चलाना आरम्भ कर दिया गया। बाद में ब्रिटिश कोर्ट ने सावरकर पर अभियोग लगाया कि वे नासिक में उस षड्यन्त्र के सरगना थे जिसके परिणाम स्वरूप एक साल पहले मिस्टर जैक्सन की हत्या हुई थी। कोर्ट ने उन पर राजद्रोहात्मक साहित्य और बम-संबंधी गुटकों को प्रकाशित और वितरित करने के साथ ही विदेश से भारत में हिसंक अस्त्र भेजने का आरोप भी लगाया।

इस मुकद्दमे से भारत के क्रान्तिकारी गुटों के साथ श्रीमती कामा और उनके सहयोगियों के निकट संबंध उजागर हो गए । इस मुकद्दमे के दौरान यह जानकारी भी हासिल हुई कि भारत के इन क्रान्तिकारी गुटों को विदेश में बसे क्रान्तिकारियों से भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढ़ाने में हर सम्भव सहायता और सहयोग मिल रहा था।

सावरकर के बचाव के लिए श्रीमती कामा ने जो कार्य किया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि यूरोप के विविध देशों में प्रभावशाली समाजवादी वर्गों के बीच उनकी कितनी ख्याति थी। श्रीमती कामा ने नासिक षड्यन्त्र केस के संबंध में बम्बई के अंग्रेज़ न्यायाधीश के फैसले के सामने समर्पण करने से इनकार कर दिया। यूरोप की समाजवादी पार्टियों में अपने कामरेडों की सहायता से वे इस मुकद्दमे

को हेग की अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के सामने पेश करने में सफल हो गयीं। हेग की अदालत ने शरणागत के अधिकार की फ्रांसीसी दलील का तकनीकी दृष्टि से अनुमोदन करने के बावजूद, अन्ततः अपना फैसला ब्रिटिश सरकार के पक्ष में दे दिया।

सावरकर के हटाए जाने पर भी श्रीमती कामा और अन्य क्रान्तिकारियों ने साहस नहीं छोड़ा। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश राज के विरूद्ध निरंतर रक्तपातपूर्ण संघर्ष जारी रखे बिना स्वराज मिलना असम्भव है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपनी गतिविधियों का क्षेत्र व्यापक किया और पेरिस के अलावा बर्लिन, न्यूयार्क और टोकियो में भी अपने केन्द्र खोल दिए।

विदेश में सक्रिय क्रान्तिकारियों में श्रीमती कामा का विशिष्ट स्थान था। फ्रांस में लोग उन्हें "भारतीय क्रान्ति की जननी", "भारतीय जोन ऑफ़ आर्क" के रूप में जानते थे। फ्रांस का भारतीय समाज उन्हें काली का अवतार मानता था।

विदेश में सक्रिय बहादुर क्रान्तिकारियों की मंडली में श्रीमती कामा एकमात्र महिला थीं जिसने आगे आकर उनके क्रियाकलाप और ज़िम्मेदारियों में, उनके संकटों और सफलताओं में साझेदारी की। उन्होंने युवा क्रान्तिकारियों को प्रेरणा दी, उनका मार्गदर्शन किया, इस लक्ष्य के लिए युवकों को प्रेरित करके भर्ती किया। भारत में रहने वाले क्रान्तिकारियों को भी उन्होंने अपनी अमर वाणी से प्रेरणा दी। उन्हें संघर्ष के लिए जिन शस्त्रों की अपेक्षा थी, उस अमले के साथ खुफिया तरीके से श्रीमती कामा ने अपना संदेश भी उन तक पहुँचाया। वे यथासंभव उनकी आर्थिक सहायता भी करती रहीं। पूरी प्रक्रिया में उनकी दृष्टि मातृवत् अपने 'बच्चों' और उनकी भलाई पर टिकी रहती थी।

भूलना नहीं चाहिए कि यह वही महिला थी जिसने एक सम्पन्न घर-परिवार की सुख सुविधा और सुरक्षा को स्वेच्छा से त्याग दिया था। जिसने एक छोर से दूसरे छोर तक यूरोप की बल्कि अमरीका तक की यात्रा की थी। दुर्बल स्वास्थ्य और बढ़ती आयु के बावजूद

जिसने अपने पक्ष में प्रचार किया। एक शक्तिशाली साम्राज्य की सत्ता की अवहेलना करते हुए जिसने अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भारत की पहली राष्ट्रीय पताका फहराई। वह पताका जिससे आगे चलकर असंख्य क्रान्तिकारियों और स्वतंत्रता-सेनानियों ने प्रेरणा ग्रहण की। आश्चर्य नहीं कि वे तमाम लोग जो उन्हें जानते थे और जिन्होंने उनके साथ काम किया था, श्रद्धापूर्वक उन्हें "क्रान्ति की जननी" कहते थे।

क्रान्ति की इस जननी ने स्वयं 1908 में 'वन्दे मातरम्' शीर्षक से एक पर्चे में "भारत की जनता के लिए संदेश" दिया। इस संदेश में और बातों के अलावा, हिंसा के मार्ग को अपनाने का तर्क प्रस्तुत किया गया था :

"अगर हमारे शत्रु हमें बल-प्रयोग के लिए विवश करते हैं तो हम बल-प्रयोग को लेकर दुःखी क्यों होते हैं ? हम बल-प्रयोग करते हैं तो केवल इसलिए कि हमें ऐसा करने के लिए विवश किया जाता है। इसका क्या औचित्य है कि अंग्रेज स्त्री-पुरुषों की दृष्टि में रूसी क्रान्तिकारिणी सोफी पेरोवोस्की और उसके साथी वीरांगना और वीर पुरुष हैं जबकि हमारे देशवासी वैसे ही लक्ष्य के लिए ठीक उसी प्रकार के काम करने के कारण अपराधी समझे जाते हैं। अगर रूस के संदर्भ में हिंसा का अनुमोदन किया जाता है तो भारत में क्यों नहीं ? कहीं भी हो तानाशाही, तानाशाही ही कहलाएगी और उत्पीड़न, उत्पीड़न ही कहलाएगा। किसी भी कर्म का औचित्य उसकी सफलता से निश्चित होता है। स्वाधीनता के लिए संघर्ष में असाधारण उपायों की अपेक्षा होती है। विदेशी शासन के विरुद्ध सफल विद्रोह देशभक्ति कहलाता है। स्वाधीनता के बिना जीवन का क्या अर्थ है ? सिद्धांतों के बिना अस्तित्व का क्या अर्थ है ? साथियो, हमें चाहिए कि हम हर तरह की रुकावट, सशय और भय को एक तरफ रख दें।"

श्रीमती कामा ने इस लम्बे संदेश का समापन इस हृदयद्रावक अपील से किया :

"हिन्दुस्तानियो ! हमारी क्रान्ति पावन है। हमें अपने देश के उन

नर-नारियों को बधाई-संदेश भेजना चाहिए जो अंग्रेजी तानाशाही के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता की लड़ाई लड़ रहे हैं। ईश्वर उनकी संख्या में निरंतर वृद्धि करे। उनके संगठन दुर्जेय हों। हमारा देश शीघ्र स्वतंत्र हो। मेरे जीवन की एकमात्र आकांक्षा अपने देश को स्वतंत्र और अखण्ड देखना है। मैं युवकों से आगे बढ़ने की याचना करती हूँ। आगे बढ़ो और अपने देश की निरुपाय, मरणोन्मुख, साधनहीन संतानों को सच्चे अर्थ में स्वराज का मार्ग दिखाओ। हमारा आदर्श हो :

हम सब भारत के लिए हैं, भारत भारतवासियों के लिए है।"

श्रीमती कामा ने इस पूरे दौर में भारत में संघर्षरत युवा क्रान्तिकारियों को आर्थिक और तकनीकी सहायता देना जारी रखा। हेमचन्द्र कानूनगो ने अपनी पुस्तक 'बङ्लार विप्लव प्रचेष्टा' में इस संदर्भ में अपने अनुभव का वर्णन किया है। वे और उनके आतंकवादी सहयोगी बम बनाने की तकनीक और अस्त्र-शस्त्र के प्रशिक्षण के लिए पेरिस गए। उन्हें इस काम के लिए परिचय-पत्र की आवश्यकता थी। श्रीमती कामा ने इस विषय में उनकी सभी अपेक्षित सहायता की।

श्रीमती कामा के क्रान्तिकारी जीवन पर नज़र डालने पर स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि उन्होंने अपने जीवन का सबसे महत्वपूर्ण दौर पेरिस में बिताया। जब उन्होंने लंदन छोड़ा तो ऐसा लगा कि उनकी गतिविधियों का एक दिलचस्प अध्याय समाप्त हो गया। उस समय किसी को अनुमान भी नहीं था कि पेरिस में एकदूसरे, कहीं अधिक दिलचस्प, उपयोगी और सोद्देश्य दौर की शुरुआत होने को है। वस्तुतः उन्होंने अपने जीवन के सबसे सक्रिय, सार्थक और सफल वर्ष पेरिस में ही बिताए। वे इस ऐतिहासिक नगर की अत्यन्त प्रसिद्ध नागरिक 'ला सितोएन कामा' ही नहीं साबित हुईं, बल्कि उन्होंने एक संस्था का दर्जा हासिल कर लिया। पेरिस में उनका छोटा-सा निवास (पेंशन) केवल साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियों का ही नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी मंत्रणाओं और गतिविधियों का असाधारण सभा-भवन हो गया। वह केवल फ्रांस की ही नहीं, बल्कि पूरे यूरोप की राष्ट्रवादी गतिविधियों का केन्द्र स्थल बन गया।

फ्रांस की निजी परम्परा थी जिसमें स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व जैसे मूल्यों को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। भारतीय क्रान्तिकारियों को यह माहौल अपनी गतिविधियों के लिए बहुत अनुकूल और सुरक्षित लगता था। यहाँ रहकर आयरिश, मिस्री और रूसी क्रान्तिकारियों के सम्पर्क से उन्हें अपनी गतिविधियों के विस्तार के लिए भी अधिक अवसर मिलता था। पेरिस इंडिया सोसायटी अथवा भारत मंडल में श्रीमती कामा, रानाजी, श्यामजी के अलावा बी. एच. गोदरेज, के. आर. कोटवाल जैसे कई अन्य सदस्य थे। पेरिस के धनाढ्य भारतीय व्यापारियों की सहानुभूति और सहायता गुप्त रूप से इन्हें बराबर मिलती रही। इनके नेताओं में सबसे सक्रिय श्रीमती कामा और सावरकर ही थे। इन दोनों ने अपनी अदम्य संकल्प-शक्ति और गत्यात्मक व्यक्तित्व से अपने चारों ओर देशभक्त युवकों का एक ऐसा दल एकत्र कर लिया था जो अपने भविष्य की अन्य संभावनाओं और जीवन की सुख-सुविधाओं का बलिदान करने के लिए तैयार थे। खास बात यह थी कि इनमें विभिन्न जातियों, धर्मो और विचारधाराओं के लोग शामिल थे। परिहास भाव से श्रीमती कामा अपने घर के छोटे-छोटे कमरों को मुख्यालय कहा करती थीं। इसी मुख्यालय से वे क्रान्तिकारी पर्चे और लेख प्रकाशित करती थीं। यहीं से वे विश्वभर के साथी क्रान्तिकारियों को सन्देश भेजती थीं, उनका उत्साह बढ़ाती थीं। यहीं से वे अपने लिए समर्थन जुटाने के उद्देश्य से यूरोप की सारी राजधानियों की यात्रा करती थीं और लौटकर दुगने उत्साह से अपने काम में जुट जाती थीं।

जैसे-जैसे श्रीमती कामा की ख्याति फैलती गयी, वैसे-वैसे भारतीय और विश्व के दूसरे देशों के क्रान्तिकारी और फ्रांस के समाजवादी उनके इस केन्द्र पर 'तीर्थयात्रा' के लिए आने लगे। वे सलाह के लिए, संरक्षण और सहायता के लिए आते थे और जब लौटते थे तो उनकी उस असीम शक्ति से प्रभावित और निर्भीक निःस्वार्थ समर्पण भावना से प्रेरित होकर

जो श्रीमती कामा के अपने देश तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उन सभी देशों तक व्याप्त थी जो पराधीन थे।

श्रीमती कामा की दिलचस्पी केवल भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन तक ही सीमित नहीं रह गयी थी। वे तुर्की, मिस्र और मोरोक्को के स्वाधीनता-आन्दोलनों में भी सक्रिय रुचि लेने लगीं थीं। उन्होंने विभिन्न देशों के राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलनों के नेताओं से व्यक्तिगत सम्पर्क और संबंध स्थापित कर लिए थे क्योंकि उन्होंने स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत सभी पराधीन देशों के बीच पारस्परिक संबंधों की आवश्यकता को समझ लिया था। श्रीमती कामा ने विश्व दृष्टि का विकास कर लिया था।

ब्रिटिश गुप्तचर विभाग ने भी अपनी रिपोर्टों में इस परिवर्तन को लक्षित किया है:

"उनकी क्षमताओं के लिए भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद का क्षेत्र पर्याप्त नहीं है। उनका रणनाद है 'पूर्व पूर्ववासियों के लिए है'। उन्हें इस बात पर भरोसा नहीं कि किसी भी एशियाई राष्ट्र को तब तक स्वाधीनता मिलेगी जब तक पूरे एशिया की सम्मिलित शक्ति यूरोप के बराबर नहीं हो जाती। मिस्रवासी, तुर्क, रूसी सभी उनके पास सहायता और सहानुभूति के लिए आते हैं।" (गृह विभाग, सितम्बर 1914, सं. 623-625)

श्रीमती कामा की दूरदर्शिता आश्चर्यजनक थी। उन्होंने 1909 में यह समझ लिया था कि क्रान्तिकारियों के लिए अबाधित रूप से अपना प्रचार-कार्य जारी रखने के लिए बर्लिन सबसे सुरक्षित स्थान है और यह भी कि जर्मनी के साथ मित्रतापूर्ण संबंध भारतीय लक्ष्य में सहायक होंगे। उन्होंने भारत की राजनीतिक आकांक्षाओं की जानकारी देने के उद्देश्य से जर्मनी में भाषण देने के लिए दौरा किया। भारतीय क्रान्तिकारियों को इंग्लैंड और जर्मनी के बीच भविष्य में होने वाले संघर्ष का पूर्वाभास हो गया था और वे इसका लाभ उठाने की तैयारी कर रहे थे।

7

सेकेंड इंटरनेशनल : जीवन में नया मोड़

अगस्त 1907, स्तुतगार्त में 'सेकेंड इंटरनेशनल' की बैठक में हिस्सेदारी श्रीमती कामा के जीवनं की सबसे गौरवपूर्ण घटना और जीवन का महत्वपूर्ण मोड़ सावित हुई। राना जी ने भी उनके साथ इस सम्मेलन में हिस्सा लिया था।

भारत के क्रान्तिकारी, भारत के स्वाधीनता आन्दोलन का मामला प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इस अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में विश्वमंच पर अपने प्रतिनिधि भेजना चाहते थे। ऐसा करके वे भारत की स्वतंत्रता के लिए शक्तिशाली मज़दूर-आन्दोलनों और पार्टियों का समर्थन प्राप्त करना चाहते थे। यह महत्वपूर्ण बात थी कि स्तुतगार्त कांग्रेस ने उपनिवेशीकरण की समस्या पर बहस की। चर्चा का एक और महत्वपूर्ण विषय था, आसन्न विश्वयुद्ध के बारे में मज़दूर वर्ग का रवैया।

यह दिलचस्प बात थी कि ब्रिटिश लेबर नेता मैक्डोनल ने, जो बाद में इंग्लैंड के प्रधानमंत्री बने, श्रीमती कामा और उनके साथियों को इस सम्मलेन में प्रतिनिधि बनने से रोकने की पूरी कोशिश की। लेकिन भारत का समर्थन लेबर नेता जॉरेंस ने, ऑगस्त बेबल, कार्ल लिबनेख्त, रोज़ा लक्समबर्ग जैसे जर्मन नेताओं ने और सबसे अधिक ब्रिटिश प्रतिनिधि हाइमैन ने किया। मैक्डोनल अपने प्रयत्न में पराजित

हुए और श्रीमती कामा और राना जी प्रतिनिधि बनने में सफल हो गए। हाइमन ने खुद इस सम्मेलन के लिए एक आलेख तैयार किया जिसका शीर्षक था "ब्रिटिश शासन में भारत की बर्बादी"। इस आलेख में उन्होंने बहुत मँजे हुए ढंग से भारत की वर्तमान स्थिति का उद्‌घाटन किया। उन्होंने यह दावा भी किया कि भारत की निजी विरासत, सभ्यता और संस्कृति किसी भी रूप में पश्चिम से कमतर नहीं है।

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि श्रीमती कामा और राना जी ने उपनिवेशीकरण से संबंधित प्रश्नों पर लगभग वही रवैया अख्तियार किया जो लेनिन, लक्समबर्ग, लिबनेख्त एवं अन्य विश्वविख्यात मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों ने अपनाया था।

सम्मेलन को संबोधित करने के लिए जब बड़ी-बड़ी काली आँखों वाली और गौरवपूर्ण भारतीय महिला, गर्वपूर्वक तनकर खड़ी हुई, उस पर सब की आँखें टिक गयीं। उसने पूरी बाँह के ब्लाउज के साथ बारीक कढ़ाई के बार्डर की परम्परागत पारसी साड़ी पहन रखी थी। आँचल से उसने शालीनतापूर्वक अपना सिर ढक रखा था।

उसकी वाणी में कटुता थी, ओजस्विता थी। वह प्रतिशोध के लिए कटिबद्ध थी। उसने बिना लाग-लपेट के शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी। श्रोताओं ने अनुभव किया कि उसके माध्यम से भारत बोल रहा है। वह भारत जो पराधीन है, दरिद्र है, अपमानित है। उसके आग्नेय भाषण की तार्किकता, ईमानदारी और भावमयता ने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर लिया था। भाषण के अंत में उन्होंने गर्व पूर्वक उस तिरंगे झण्डे को निकाल कर फहरा दिया जिसे वे अब तक छिपाए हुए थीं। तालियों की गड़गड़ाहट के बीच उन्होंने भारत के लिए न्याय की माँग की।

इस अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में 18 अगस्त 1907 को भारत की राष्ट्रीय ध्वजा फहराकर श्रीमती कामा ने ऐतिहासिक कार्य किया। सम्मेलन को उन्होंने जोश से संबोधित करते हुए कहा : "यह

भारत की स्वाधीनता का झण्डा है। देखो इसने जन्म ले लिया है। शहीद भारतीय युवकों के रक्त से इसे पवित्र किया जा चुका है। मैं आप भद्रजनों का आह्वान करती हूँ कि आप खड़े होकर भारतीय स्वाधीनता की इस पताका को सलामी दें। इस झण्डे के नाम पर, मैं विश्वभर के स्वतन्त्रता-प्रेमियों से अपील करती हूँ कि वे सम्पूर्ण मानव जाति के पाँचवे हिस्से को स्वतन्त्र कराने में इसके साथ सहयोग करें।"

श्रीमती कामा ने भारत के लिए सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग करते हुए एक प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया। अपने प्रस्ताव के समर्थन में उन्होंने कहा : "भारतीयों के हित में ब्रिटिश शासन का जारी रहना निश्चित रूप से अनर्थकारी और अत्यन्त हानिकारक है। विश्वभर के स्वतन्त्रता प्रेमियों को उस उत्पीड़ित देश में बसे हुए सम्पूर्ण मानव-जाति के पाँचवे हिस्से को दासता से मुक्त कराने में सहयोग देना चाहिए।"

उस समय न तो ब्रिटिश शासक ऐसी बात सोच सकते थे, और न ही कांग्रेस के नेताओं में से कोई ऐसी कल्पना कर सकता था। श्रीमती कामा निस्सन्देह एक विशिष्ट नेता थीं। उनके पास राष्ट्रीय नारे को ठीक-ठीक सूत्रबद्ध करने और एक अन्तर्राष्ट्रीय मंच का ध्यान भारत के राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन पर केन्द्रित कराने के लिए अपेक्षित दूरदर्शिता भी थी और राजनीतिक विदग्धता भी। श्रीमती कामा के प्रस्ताव का समर्थन प्रसिद्ध ब्रिटिश मार्क्सवादी एच. एम. हाइमैन ने किया, किन्तु शेष ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल ने प्रस्ताव का विरोध इस तकनीकी आपत्ति के सहारे किया कि इस प्रस्ताव को इसलिए पेश नहीं किया जा सकता क्योंकि इसे अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो के सामने पेश नहीं किया गया है। इस बात में सन्देह की गुंजाइश नहीं थी कि सम्मेलन की सहानुभूति किसके साथ है। स्वयं सभापति सिंगर ने इस प्रसंग पर टिप्पणी की : "सम्मेलन का ब्यूरो इस प्रस्ताव की मूल चेतना का अनुमोदन करता है।"

श्रीमती कामा सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि मंडल की उपस्थिति के

बारे में सजग थीं, यह उनके भाषण से प्रकट होता है। उन्होंने कहा :

"हमारे देशवासी इस सम्मेलन में प्रतिनिधि-मंडल भेजने में असमर्थ हैं क्योंकि वे निर्धन हैं। किन्तु मुझे आशा है कि एक दिन उनमें भी जागृति उत्पन्न होगी और वे अपने रूसी कामरेडों के उदाहरण का अनुसरण करेंगे। वे रूसी जो स्वयं अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे हैं और जिनका हम मैत्रीपूर्ण अभिवादन करते हैं।"

भारत की स्वतंत्रता के लिए श्रीमती कामा ने यूरोप और अमेरिका के समाजवादी प्रतिनिधियों का समर्थन उस समय प्राप्त किया था जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों का समापन 'गॉड सेव द किंग' (ईश्वर राजा की रक्षा करे) के गान से होता था। भूलना नहीं चाहिए कि 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस के गोखले और फिरोजशाह मेहता जैसे अनुभवी नेताओं ने तिलक और अरविन्द के नेतृत्व में उग्र शाखा द्वारा प्रवर्तित "स्वराज" और "बहिष्कार" के प्रस्तावों को समर्थन देने के बजाय कांग्रेस को विघटित होते देखना बेहतर समझा था।

इस प्रकार भारतीय स्वाधीनता का सवेरा होने से पहले श्रीमती कामा आकाश में भोर के एकमात्र नक्षत्र के समान चमकती दिखायी पड़ती हैं। हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन के इतिहास में उनकी स्थिति निराली है। उन्होंने सबसे पहले भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का नारा दिया। उन्होंने सबसे पहले हमारे देश के लिए स्वराज की माँग पेश की। उन्हीं ने पहली बार किसी अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भारत का झण्डा फहराया। इस बात के महत्व को समझने के लिए याद रखना चाहिए कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने औपचारिक रूप में उन नारों को बुलन्द करने में कई दशक लगाए जिन्हें श्रीमती कामा ने शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में दिया था। इसी प्रकार राष्ट्रीयध्वज का निर्णय भी उन लोगों ने बहुत बाद में किया। अतः श्रीमती कामा उस राष्ट्रीय आन्दोलन की अग्रदूत थीं जो वर्षों बाद व्यवस्थित रूप ग्रहण कर सका।

स्तुतगार्त सम्मेलन में श्रीमती कामा ने जिस ध्वज को फहराया था उसकी एक महान राष्ट्रीय परम्परा थी। वह अपने आप में भारतीय क्रान्तिकारियों की महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक था।

दिलचस्प बात है कि उस तिरंगे झण्डे को अन्तिम रूप देने में लगभग 40 वर्ष लगे जो अन्ततः स्वाधीन भारत की राष्ट्रीय पताका के रूप में स्वीकृत हुआ। वस्तुतः राष्ट्रध्वज का सूत्रपात 'स्वदेशी' दौर में हुआ। तिरंगे झण्डे का नमूना आरम्भ में उन भारतीय क्रान्तिकारियों ने तैयार किया था जिन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण की थी जिसमें समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के सिद्धान्तों की घोषणा की गई थी। मूल ध्वज में ऊपर की लाल पट्टी पर सात कमल के फूल अंकित थे। ये फूल भारत के सात सूबों के प्रतीक थे। बीच की पीली पट्टी पर देवनागरी में 'वन्दे मातरम्' लिखा था। नीचे की हरी पट्टी पर हिन्दू और मुसलमानों के प्रतीक के रूप में सूर्य और चंद्रमा अंकित थे। यह ध्वज 'बहिष्कार दिवस' मनाते हुए सबसे पहले कलकत्ता के ग्रीन पार्क में 7 अगस्त 1906 को फहराया गया था। ध्वजा को सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को सौंप दिया गया। यह ध्वज 1906 में कलकत्ता में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के उस मंच पर भी फहराया गया जिसके अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे।

यह उस झण्डे की कथा थी जिसे श्रीमती कामा ने 1907 में स्तुतगार्त में फहराया। जर्मनी के समाज-लोकतंत्रवादी कार्ल कात्स्की ने उस अवसर की चर्चा डा. भूपेन्द्र नाथ दत्त से करते हुए कहा था : "मुझे याद है कि मैंने एक भारतीय महिला को ध्वजा उठाते देखा था" (**भारतेर द्वितीय स्वाधीनतार संग्राम**, पृ0 227)। बंगाल के दूसरे क्रान्तिकारी हेमचन्द्र कानूनगो ने भी जो उस समय पेरिस में थे अपनी रचना 'बाङ्लार विप्लव प्रचेष्टा' में इस ध्वजा का वर्णन इस रूप में किया है : "लाल, केसरिया और नीला ये तीन रंग इसी क्रम में थे। लाल सबसे ऊपर था जिसमें आठ अधखिले सफेद कमल थे। बीच के केसरिया रंग पर देवनागरी लिपि में 'वंदे मातरम्' अंकित था, और

नीचे नीले रंग पर एक ओर सूर्य और दूसरी ओर अर्द्धचन्द्र के साथ तारा अंकित था।" (पृ0 205)

जब डॉ. दत्त ने हेमचन्द्र कानूनगो से स्तुतगार्त में श्रीमती कामा द्वारा फहरायी गयी ध्वजा के बारे में पूछा, तो उन्होंने पत्र में स्पष्टीकरण किया : "मैंने अपनी पुस्तक (अर्थात् 'बाङ्लार विप्लव प्रचेष्टा') में राष्ट्रीय ध्वज का डिजाइन बनाने का श्रेय नहीं लिया है : यद्यपि झण्डे को पूरी तरह मैंने ही बनाया था।" (पृ0 222)। इस कथन से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि जब श्रीमती कामा स्टुटगार्ट सम्मेलन में भाग लेने के लिए जा रही थीं तो पेरिस में उनके लिए झण्डे का निर्माण कानूनगो ने ही किया था। लेकिन कानूनगो ने यह स्पष्ट नहीं किया कि झण्डा उन्हीं ने बनाया था या सावरकर ने। स्तुतगार्त में 1907 में फहराये गए झण्डे और कलकत्ता में 1906 के स्वदेशी झण्डे के बीच अद्भुत साम्य है।

इन दोनों झण्डों के बीच इतनी अधिक समानता से यही सिद्ध होता है कि जो झण्डा कलकत्ता में 1906 में फहराया गया था, वह उसी समय प्रवासी भारतीय क्रान्तिकारियों के पास पहुँच गया था और स्तुतगार्त सम्मेलन की शुरुआत के समय हेमचन्द्र ने उसी झण्डे के आधार पर दूसरे झंडे का डिज़ाइन बनायां था।

1907 में अमरीका का दौरा करने के बाद श्रीमती कामा ने अपनी अपील में इस झण्डे का हवाला दिया। लंदन के इंडिया हाउस या दूसरे स्थानों पर अपनी सभाओं में वे बराबर इस झण्डे की चर्चा करते हुए कहा करती थीं कि "यही वह झण्डा है जिसके लिए खुदीराम और प्रफुल्ल चकी ने अपनी जानें गँवा दीं।"

उनकी पत्रिका 'तलवार' के मुख पृष्ठ पर झण्डे की तस्वीर छपी रहती थी। अन्ततः यह सिद्ध हो गया कि बंगाल सम्मेलन ने जिस ध्वजा को अपनाया था उसी को पेरिस के क्रान्तिकारियों ने भी स्वीकार कर लिया। संभावना यही है कि इस झण्डे का डिजाइन श्रीमती कामा और सावरकर ने मिलकर बनाया था।

प्रसिद्ध गुजराती समाजवादी नेता श्री इन्दुलाल याज्ञिक इस झण्डे को क्रान्तिकारी देशभक्तों के दूसरे अभिलेखों के साथ चोरी से भारत ले आए थे। उन्होंने इसे बम्बई के किसी गोपनीय स्थान पर छिपाकर रखा था। बाद में जब 1939 में वे यरवदा जेल में थे तो उन्होंने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के पौत्र श्री जी. वी. केलकर को बुला कर यह व्यवस्था कर दी कि वे इस सामग्री को उपलब्ध कर लें। झण्डे को एक अलंकृत फ्रेम में जड़कर पूना में उसकी शोभा-यात्रा निकाली गयी। उसी रूप में आज भी वह झण्डा पूना के 'केसरी' और 'मराठा' के कार्यालय के पुस्तकालय कक्ष में टँगा है और हर विशिष्ट अतिथि को दिखाया जाता है।

श्रीमती कामा ने स्तुतगार्त में जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया उसकी शब्दावली, उसके प्रेरक विचार तथा उनके अपने राजनीतिक विचार इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि श्रीमती कामा और भारत के प्रवासी क्रान्तिकारियों के लिए वह ध्वजा निश्चित रूप से स्वतन्त्र भारत का प्रतीक थी।

31 दिसम्बर, 1929 को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में तिरंगे झण्डे को औपचारिक रूप से स्वीकार करके आधी रात को फहराया गया तथा स्वतंत्रता संबंधी प्रस्ताव पारित किया गया जबकि यह काम श्रीमती कामा लाहौर अधिवेशन से 22 वर्ष पहले 1907 में अन्जाम दे चुकी थीं। इसी से उनके योगदान का महत्व समझा जा सकता है।

8

अमरीका-यात्रा के दौरान

1907 के अक्टूबर में श्रीमती कामा न्यूयार्क पहुँच गईं और 'सन' (सूर्य) को एक साक्षात्कार देते हुए उन्होंने कहा :

"हम लोग पराधीन हैं। मेरे अमरीका आने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि मैं ब्रिटिश राज के उन अत्याचारों का पूरी तरह भण्डाफोड़ कर सकूँ जिन्हें इतनी दूरी के कारण आप लोग नहीं जानते। मेरे आने का एक उद्देश्य यह भी है कि मैं इस महान् गणतन्त्र के संवेदनशील नागरिकों में अपने मताधिकार के बारे में दिलचस्पी जगा सकूँ।"

उन्होंने समस्या की विस्तार से व्याख्या करते हुए कहा :

"इंग्लैंड हमारे देश से सारा धन निकाल ले जाता है। हर साल साढ़े तीन करोड़ पाउण्ड राशि भारत से बिना लाभ के बाहर चली जाती है। नतीजा यह होता है कि हमारे यहाँ हज़ारों लोग अकालग्रस्त होते हैं और एक सीमा तक अमरीकी दान के सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं। हम अपने देशवासियों को पश्चिमी ढंग से व्यावहारिक शिक्षा देना चाहते हैं। हमारे पास संस्कृति है, हमें अपने अनिवार्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धन चाहिए।"

जब श्रोताओं ने उनसे क्रान्ति के उद्देश्य के बारे में प्रश्न किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमारी क्रान्ति का लक्ष्य है "स्वराज" और

"अपनी सरकार" के साथ स्वतन्त्रता की स्थापना, समानता और बन्धुत्व के लिए संघर्ष। उन्होंने उल्लासपूर्वक "दस वर्ष के समय के भीतर" इस लक्ष्य को सिद्ध कर लेने की आशा व्यक्त की। भारी बाधाओं और असफलताओं के बावजूद श्रीमती कामा ने लगभग अन्त तक इस आशावाद को बनाए रखा।

उन्होंने आगे कहा :

"किसी को इस बात की चिन्ता नहीं है कि हम पर किस तरह अत्याचार किया जाता है। मुझे विश्वास है कि मैं भारत नहीं लौट सकती। हाल ही में हमारे दो सुसंस्कृत व्यक्तियों को गिरफ़्तार करके, बिना मुकद्दमा चलाए, इसलिए निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि वे देश की स्थिति का सही बयान कर रहे थे। इस समय वे बर्मा में कैद हैं।"

अखबार के एक संवाददाता ने उनसे प्रश्न किया कि ब्रिटिश सरकार का तख़्ता-पलट कैसे संभव होगा? तो उन्होंने उत्तर दिया :

"निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा। हम निःशस्त्र शान्तिप्रिय लोग हैं। यदि हम चाहें तो भी युद्ध नहीं कर सकते। हम अपने देशवासियों को जमकर प्रतिरोध करने के लिए तैयार कर रहे हैं। इस काम के लिए ज़रूरत है सिर्फ एकता और संगठन की। चुटकी बजाते ही हम रक्त की एक बूँद गिराए बिना हर अंग्रेज़ को उसी के घर में बन्दी बना सकते हैं। हमें केवल इतना भर करना है कि हम एकजुट होकर काम करने से इनकार कर दें। पाँच दिनों में बिना रक्त बहाए तख़्ता पलटा जा सकता है।"

वे होटल 'मार्था वाशिंगटन' में ठहरी थीं। वहाँ 'सन' के जिस संवाददाता ने उनका साक्षात्कार किया था उसके अनुसार न्यूयार्क में उनसे और उनके कार्य से परिचित कराने के लिए शुरू नवम्बर में जिस स्वागत-समारोह की योजना बनायी जा रही थी उसको लेकर उनके मन में बड़ा संकोच और एक हद तक आपत्ति थी। उन्होंने परेशान होकर कहा था, "मेरी प्रार्थना है कि अखबारों को यह नहीं

छापने देना चाहिए कि मैं कोई राजकुमारी हूँ। मैं जो नहीं हूँ, वह कहकर सबके सामने मेरी परेड करायी जाय–यह मैं नहीं चाहती। मैं अपने पराधीन देशवासियों की सीधी-सादी सेविका हूँ।'' वे चाहे जितनी सीधी-सादी और विनम्र रही हों, पर उनकी यात्रा को अमरीकी समाचार-पत्रों ने पूरा महत्व दिया।

उनके व्यक्तित्व का सबसे बड़ा आकर्षण इस बात में था कि वे भारतीय नारी के बारे में प्रचलित अवधारणा से एकदम भिन्न थीं। वे जहाँ जाती थीं, अपने श्रोताओं को सम्मोहित कर अपने वश में कर लेती थीं। अपने देश की प्राचीन सभ्यता और दार्शनिक विचारधाराओं का शान्त भाव से गुणगान करने वाली भारतीय महिला के बजाय श्रोताओं का साक्षात्कार देशी-रेशमी वस्त्रों से सज्जित एक ऐसे सम्मोहक व्यक्तित्व से होता था जिसने हिंसा, क्रान्ति और रक्तपात का नारा बुलन्द किया था। वे जहाँ भी जाती थीं वहीं हलचल मच जाती थी।

अमरीका के सनसनीखेज अखबारों ने उन्हें प्रचंड धर्मयोद्धा, भारत की 'जोन ऑफ़ आर्क' कहा। जहाँ तक उनका अपना सवाल था उन्होंने कभी वैयक्तिक प्रचार के लिए प्रयत्न नहीं किया। बल्कि वे लोकप्रसिद्धि को पसन्द नहीं करती थीं। षड्यन्त्र पर भाषण देने का अर्थ ही था प्रचार की पूरी चकाचौंध में संसार के सामने मंच पर आना, और श्रीमती कामा ने इस चुनौती से कभी मुँह नहीं मोड़ा।

28 अक्टूबर को श्रीमती कामा ने वाल्डर्फ एस्टोरिया होटल में मिनर्वा क्लब के सदस्यों को संबोधित करते हुए कहा :

> ''यहाँ के लोगों को रूस के हालात के बारे में जानकारी है, पर ब्रिटिश राज की अधीनता में भारत की स्थिति के बारे में वे कुछ नहीं जानते। हमारे सर्वोत्तम व्यक्तियों को अपराधियों की तरह बन्दी बनाकर या तो निर्वासित कर दिया जाता है या कारावास में डाल दिया जाता है। उनकी पिटाई करके अन्ततः उन्हें कारावास के अस्पताल में पहुँचा दिया जाता है। हम शान्तिप्रिय लोग हैं, हम रक्तपूर्ण क्रान्ति नहीं चाहते, पर हम अपने लोगों को उनके

अधिकारों की शिक्षा देकर तानाशाही को उखाड़ फेंकना चाहते हैं।"

श्रीमती कामा ने पूरे देश का दौरा किया। वे जहाँ जाती थीं, उनका झण्डा उनके साथ जाता था। इस दौरान श्रीमती कामा अपने भव्यतम रूप में दिखायी देती हैं। उन्होंने अमरीका को महान् देश कहा। वहाँ के निवासियों की उदारता की प्रशंसा की। उनसे सहायता के लिए अपील की। वस्तुतः अमरीकी लोगों के बीच वे भारतीय जनता की पहली गैर सरकारी राजदूत थीं। हमेशा स्पष्टवादी.....इस हद तक कि एक साक्षात्कार में उन्होंने यहाँ तक कहने का साहस किया :

"भारतीय जनता के पास संस्कृति की पूँजी है। गरीब से गरीब किसान की स्मृति में रामायण और महाभारत के तमाम आध्यात्मिक सत्य संचित हैं। इसीलिए उन्होंने (शासकों ने) महसूस किया कि ऐसी निरीह और गम्भीर रूप से धार्मिक जनता पर बन्दूक की नोक के सहारे ईसाइयत को थोपना असंगत होगा।"

उन्होंने ऐसी कूटनीति का सहारा कभी नहीं लिया जिसमें सत्य को छिपाना पड़े। उनके उपर्युक्त कथन से कुछ ईसाई धर्माधिकारी रुष्ट हो गए और श्रीमती कामा को उनके असुविधाजनक प्रश्नों का सामना करना पड़ा। बाद में भी कई अवसरों पर ब्रिटिश राज का खुल्लमखुल्ला विरोध करने के कारण श्रीमती कामा के सामने असुविधाजनक स्थितियाँ आयीं।

यह स्मरण दिलाना प्रासंगिक होगा कि श्रीमती कामा से पहले 1893 में स्वामी विवेकानन्द धर्मों की अंतर्राष्ट्रीय संसद में अमरीका में अपना स्मरणीय भाषण देकर भारत के बारे में विश्व की रुचि जगा चुके थे और अपने देश के बारे में अनुकूल प्रभाव छोड़ चुके थे।

इस पृष्ठभूमि और वातावरण में श्रीमती कामा की यात्रा का बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा। उन्होंने वहाँ बरकतउल्ला और फेल्प्स से भेंट की और इन दोनों के नेतृत्व में सक्रिय सभाओं ने एक जुट

होकर भारत में स्वराज के लिए कार्य करने का फैसला किया।

वर्ष 1907 श्रीमती कामा के लिए उत्तेजनापूर्ण गतिविधियों का वर्ष रहा। उन्होंने वर्षभर बराबर यात्रा की, अनगिनत भाषण दिए। इससे उनपर शारीरिक दबाव पड़ा, पर भावात्मक स्तर पर उनके लिए यह दौर उत्तेजक चुनौतियों और सन्तोषप्रद अनुभवों का था।

श्रीमती कामा के अमरीका से वापस पेरिस लौटने की तिथि का कोई लिखित साक्ष्य नहीं मिलता। पर इतना तय है कि वे बराबर यात्रा करती रहीं। उनके अनवरत क्रियाकलापों के बारे में उनके पत्राचार और मित्रों से प्राप्त रिपोर्टों से ही नहीं बल्कि ब्रिटेन के खुफिया रिकॉर्डों से भी जानकारी मिलती है क्योंकि वे बराबर पुलिस की सख्त निगरानी में रहती थीं।

अमरीका से वापसी

अक्टूबर 1908 में श्रीमती कामा खेमचन्द नाम के एक व्यक्ति के घर पर विपिनचन्द्र पाल से मिलने के लिए एक बैठक में शामिल हुई। दरअसल वे इसी विशेष उद्देश्य से पेरिस लौटी थीं। 1908 में विपिनचन्द्र पाल ने कई भाषण दिए। इन्हीं के बीच श्रीमती कामा ने एक स्मरणीय भाषण दिया। यही भाषण 'स्वतन्त्र भारत' (फ्री हिन्दुस्तान) में पुनः प्रकाशित हुआ और उसके बाद 'वन्दे मातरम्' शीर्षक से एक इश्तहार के रूप में डाक से कई जगह भेज दिया गया। इस पर्चे में अपनी मातृभूमि के निवासियों के नाम श्रीमती कामा का अमर संदेश था।

जनवरी 1909 में सरकार को इस बात की रिपोर्ट मिली कि श्रीमती कामा लंदन में राष्ट्रवादियों के लिए चंदा दे रही हैं, विशेष रूप से उस राजद्रोहात्मक सामग्री की छपाई के लिए, जो यूरोप से भेजी जा रही है। मई में वे लंदन से पेरिस आ गयीं। वे फिर लंदन गयीं और 6 अगस्त को टाटा ब्रदर्स के कार्यालय में आयोजित एक सभा की अध्यक्षता करने के लिए फिर वे पेरिस लौट आयीं।

20 फरवरी 1909 को ऐसेक्स हाल में 'भारत में हिन्दू-मुस्लिम संबंध' पर लंदन इंडिया सोसाइटी की एक बैठक का ब्रिटिश गुप्तचर विभाग ने बड़ा सजीव वर्णन किया है। बोलना आरम्भ करने से पहले

श्रीमती कामा ने अपनी जेब से एक सिल्क का झण्डा निकाला। उस पर लिखा था 'स्वदेशी' और 'वन्दे मातरम्'। झण्डा उनके पीछे दीवार पर टॉग दिया गया। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि वे मुसलमानों की इसलिए अधिक प्रशंसक हैं क्योंकि वे अधिक शक्तिशाली और लड़ाकू जाति के लोग हैं। वर्तमान संकट की स्थिति में यदि हिंसा से काम लेने की ज़रूरत हो तो ऐसे ही लोगों की आवश्यकता होगी : "बलप्रयोग और हिंसा अब अनिवार्य हो गए हैं। उनके उपयोग के बिना स्वाधीनता एक स्वप्न है......एक ढोंग मात्र है।" उन्होंने भाषण के बीच एक उद्धरण प्रस्तुत किया। उनका दावा था कि यह उद्धरण हर्बर्ट स्पेंसर से लिया गया है। इस उद्धरण में अंग्रेजों के चालाकी से भारत में प्रवेश और फिर 1857 के आन्दोलन के दमन का ज़िक्र किया गया था। श्रीमती कामा ने उस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि अपने को स्वतंत्र करना स्वयं भारतीयों के हाथ में है। वे अंग्रेजों का परित्याग करके एक तरफ हो जायें तो स्वाधीनता अपने आप चली आएगी। उन्हें अंग्रेजों के अधीन कोई पद स्वीकार नहीं करना चाहिए, बल्कि स्वयं व्यापार, उद्योग और कलाओं के विकास की दिशा में प्रयास करना चाहिए। वे देखेंगे कि देश खुद-ब-खुद अपना हो गया है। अपने प्रिय विषय 'एकता' के बारे में उन्होंने कहा : "देशवासियों के आपसी संबंध दृढ़ और अटल होने चाहिएँ। उनके बीच एकता और धर्म के सवाल नहीं उठाए जाने चाहिएँ। लोगों को चाहिए कि आपसी बन्धुत्व की गाँठ को जितनी मजबूती से बाँध सकें, बाँधें और तब वे जिस दिशा में चाहेंगे, उन्हें आसानी से राह मिल जाएगी।"

यह वह समय था जब श्रीमती कामा गोविन्द अमीन की सहायता कर रही थीं। वह शस्त्रों के प्रयोग की शिक्षा ग्रहण कर रहा था और विस्फोटक सामग्री के निर्माण का प्रयास कर रहा था..... क्रान्तिकारी साहित्य को तैयार कराके भारत भिजवा रहा था और श्रीमती कामा की सलाह और बहुमूल्य आर्थिक सहायता से क्रान्तिकारी कार्यक्रमों में योग दे रहा था। केवल भारतीय ही श्रीमती कामा के पास सलाह

और सहायता के लिए नहीं आते थे। ब्रिटिश जासूसी विभाग की रिपोर्ट के अनुसार अगस्त 1910 के अन्त में श्रीमती कामा के घर एक रहस्यमय व्यक्ति कई बार कार से आया। बाद में ज्ञात हुआ कि यह व्यक्ति मिस्र की राष्ट्रवादी पार्टी का अध्यक्ष फेरिद बे था। कुछ समय पहले पेरिन नौरोजी जो सावरकर की गिरफ्तारी के समय विक्टोरिया स्टेशन पर उनके साथ थीं, पेरिस लौट आयी थीं। हरदयाल के साथ वे श्रीमती कामा के घर आयी थीं जहाँ कई मिस्रवासी इकट्ठे थे। फ्रांसीसी सरकार ने फ्रांस में मिस्र के राष्ट्रीय सम्मेलन के आयोजन पर प्रतिवन्ध लगा दिया था। निर्णय किया गया कि इस सम्मेलन का आयोजन 21 सितम्बर को ब्रूसेल्स में किया जाय। भारतीय और मिश्री क्रान्तिकारियों ने इस संबंध में सांध्य-गोष्ठी की और सवेरे सब ब्रूसेल्स के लिए रवाना हो गए। इस सम्मेलन में भारतीयों ने सक्रिय भाग लिया और श्रीमती कामा ने घोषणा की : "मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी स्थिति को बार-बार दोहराने से क्या लाभ ? विदेशी आधिपत्य का उचित उत्तर केवल बम और रिवाल्वर है।"

मार्च 1910 में सावरकर लंदन में गिरफ्तार हो गए और उसके बाद श्रीमती कामा का सारा समय और शक्ति सावरकर को छुड़ाने के प्रयास में लगने लगा। सावरकर ने अपनी गिरफ्तारी की घटना का वर्णन करते हुए उस पेरिस गुट का जिक्र किया है जो उन्हें विदा देने आया था। उन्होंने लिखा है: "उनके बीच मैंने दो चेहरे देखे जो ऊपर से शान्त थे पर वस्तुतः बहुत उदास थे.... एक श्रीमती कामा का और दूसरा हरदयाल का। ऐसा लगता था जैसे उन्हें इस आने वाली घटना का पूर्वाभास हो गया हो।"

दिसम्बर 1912 में रिपोर्ट की गई कि अन्डमान जेल में बन्दी हेमचन्द्र दास और गणेश सावरकर ने श्रीमती कामा को पत्र लिखे और उन्होंने इन पत्रों का उत्तर दिया। फरवरी 1913 में पता लगा कि सरदार राना, माधवराव और वी. वी. एस. अय्यर से उनका लगातार सम्पर्क था। वे प्रतिदिन या तो उनसे मिलती थीं या फोन पर राय लेती थीं।

उन्होंने अन्डमान में सावरकर से, न्यूयार्क में एम. पी. टी. आचार्य से और अन्य आन्दोलनकारियों से सम्पर्क जारी रखा और सावरकर के परिवार को नियमित रूप से पैसे भेजती रहीं।

ब्रिटिश सरकार से श्रीमती कामा की टकराहट क्रमशः अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। सरकार ने श्रीमती कामा की कार्यवाहियों को विफल करने की हरचन्द कोशिश की, पर श्रीमती कामा के भीतर एक ऐसा दुर्दम्य विरोधी था जिस पर काबू पाना असंभव था। निराश होकर सरकार ने उनकी डाक को सेंसर करना शुरू कर दिया। श्रीमती कामा को अपराधी और फ़रार तक घोषित कर दिया गया। उनकी डाक को बीच में ही रोककर सभी बन्दरगाहों पर अच्छी तरह छानवीन करने के आदेश जारी कर दिए गए। पर इस तरह के दाँव पेंचों के सामने उन्होंने हार नहीं मानी और उनके इश्तहार और पार्सल पांडिचेरी के रास्ते भारत पहुँचते रहे।

पेरिस निवासिनी इस "कुख्यात पारसी महिला" की डाक के वारे में डाकघर अधिनियम की धारा 26 के तहत कहा गया :

> "हमें इस वात की सूचना मिली है कि हाल ही में अपनी विची यात्रा के दौरान, उन्हें भारत से लगातार पत्र मिलते रहे। डाक को रोकने का प्रस्ताव इस दृष्टि से किया गया है कि इस बात की जानकारी हासिल की जाय कि भारत में उनका पत्राचार किन लोगों से है और इस पत्राचार की प्रकृति क्या है ? कुछ महीने पहले इस महिला की गतिविधियों के बारे में सर चार्ल्स क्लीवलैंड की टिप्पणी में कहा गया है कि उसके वृत्त में बहुत कुछ ऐसा घटित हो रहा था जिसका हमें कोई सुराग नहीं मिला और मेरी राय में स्थिति अब भी वैसी ही है....इस आदेश को लागू करने में कोई व्यावहारिक कठिनाई नहीं होगी कि भारत से श्रीमती कामा के नाम आने वाली सभी वस्तुओं को बीच में रोक लिया जाय। रोकने का काम कलकत्ता, बम्बई और लंदन के बीच वर्तमान समुद्री डाकखाने पर किया जा सकता है।

मैं श्रीमती कामा की हिस्ट्रीशीट की एक प्रतिलिपि संलग्न कर रहा हूँ....इसमें सम्पूर्ण विश्व के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के नेताओं के साथ श्रीमती कामा के लगातार सहयोग के बारे में पर्याप्त प्रमाण हैं। उनके अपने शब्दों से स्पष्ट है कि वे भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी मुहिम में अपने आपको व्यस्त मानती हैं। वे अराजक हैं, क्रान्तिकारी हैं, ब्रिटिश-विरोधी हैं और अनम्य हैं। इस स्थिति को देखते हुए जनता की सुरक्षा और शान्ति के हित में उनकी डाक की छान-बीन आवश्यक है।"

श्रीमती कामा ने विदेश में रहने वाली कई अन्य भारतीय महिलाओं को प्रभावित किया और उन्हें अपने देश की समस्याओं के प्रति उन्मुख कर दिया। वे नारी आन्दोलनों में हमेशा सक्रिय रहीं। 1906 में उन्होंने महिलाओं की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् में भाग लेकर न्याय की माँग की थी। वे पूर्णतः विश्वास करती थीं कि सार्वजनिक मामलों में स्त्रियों को समुचित भूमिका निभानी चाहिए। स्वयं दादाभाई नौरोजी की पौत्री पेरिन नौरोजी ने भी उनके क्रान्तिकारी विचारों को स्वीकार किया था।

ब्रिटिश खुफिया पुलिस ने ऐसी अनेक महिलाओं का जिक्र अपनी रिपोर्टों में किया था। कहना न होगा कि वे इनमें सबसे खतरनाक, इनकी सरगना श्रीमती कामा को ही समझते थे। बार-बार उनकी डाक को रोककर उसकी छान-बीन करने के आदेश देते रहने पर भी वे जानते थे कि जैसे ही श्रीमती कामा को इस बात का शक होगा वे दूसरे रास्ते इख्तियार करने का प्रयत्न करेंगी।

इस दृष्टि से उन्होंने पांडिचेरी को खतरनाक अराजक केन्द्र माना था और इस बात का प्रयास किया था कि वहाँ आने वाली डाक की पड़ताल मद्रास में रोककर की जाय।

जब ऐसी तमाम कार्रवाइयों का प्रभाव उनके क्रियाकलाप पर नहीं पड़ा तो तंग आकर ब्रिटिश सरकार ने उनकी गतिविधियों पर रोक लगाने के लिए, क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की धारा 98 के तहत वारंट

की तामील न होने के कारण उन्हें फरार घोषित कर दिया। भारत में उनके न्यास की लगभग एक लाख रुपये की जायदाद जब्त कर ली गई ताकि वे भौतिक सम्पत्ति से वंचित हो जायें। उनकी सम्पत्ति को जब्त करने की कानूनी उलझन पर काबू पाने और अपनी इस कार्रवाई को उचित ठहराने के लिए सम्बद्ध ब्रिटिश अधिकारियों में काफी पत्र-व्यवहार हुआ।

इस विषय पर जो विपुल लिखित कार्यवाही हुई उसका एक अंश नमूने के बतौर उद्धृत है :

"भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124-ए या 124-ए/109 के अंतर्गत श्रीमती कामा पर राजद्रोह या राजद्रोह में सहायता का आरोप लगाया जा सकता है।"

"जहाँ तक मेरी जानकारी है, उन्होंने भारत में ऐसा कुछ नहीं किया, जिसके कारण उन्हें भारतीय दण्ड-संहिता के क्षेत्र में लाया जा सके। किन्तु एक भारतीय नागरिक होने के नाते, ब्रिटिश इण्डिया के बाहर किए गए कामों के लिए भी वे भारतीय दण्ड संहिता की धाराओं के प्रति जवाबदेह हैं। (भाग 4, भारतीय दण्ड संहिता)

संक्षेप में उनके विरुद्ध प्रमाण निम्नलिखित हैं:

1. स्पष्टतः राजद्रोहात्मक और क्रान्तिकारी पत्र 'तलवार' के मुख पृष्ठ पर उनका नाम उस व्यक्ति के रूप में छपा है जिसके पास चिट्ठी-पत्री और पैसा भेजा जाना चाहिए।
2. 'वन्दे मातरम्' और 'तलवार' स्पष्ट रूप से भारत में ब्रिटिश राज के विरोधी हैं। उनका लक्ष्य है भारत में वितरण, जो वस्तुतः पूरा किया भी जा रहा है। श्रीमती कामा प्रत्यक्ष रूप से इन पत्रों को सहायता देती हैं।
3. इसी प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने सावरकर की 'बगावत-पुस्तिका' के प्रकाशन में सहायता की है। उसका वितरण इस टिप्पणी के साथ हुआ है कि उसका शुल्क श्रीमती कामा के पास भेजा जाना चाहिए।

4. दिसम्बर 1908 में 'वन्दे मातरम्' शीर्षक से एक अत्यन्त उग्र क्रान्तिकारी इश्तहार बड़ी संख्या में भारत भेजा गया। 'भारत की जनता के नाम सन्देश' के रूप में इसकी रचना का दावा श्रीमती कामा ने किया। यह इश्तहार वस्तुतः दिसम्बर 1908 में दिए गए उनके एक भाषण से तत्वतः अभिन्न है। मेरी राय में यह इश्तहार भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124-ए के अधीन उन पर प्रत्यक्षतः मुकद्दमे का आधार है।
5. 4 सितम्बर 1907 के 'इंडियन सोशियॉलॉजिस्ट' में उनके नाम से एक प्रकट रूप से राजद्रोहात्मक लेख प्रकाशित हुआ था।
6. इसके अलावा हमारे पास बड़ी संख्या में इस बात की अखबारी सूचनाएँ हैं कि उन्होंने स्तुतगार्त, अमरीका, इंग्लैंड में उग्र क्रान्तिकारी भाषण दिए। गैर सरकारी स्रोतों से भी उनके राजद्रोही भाषणों और गतिविधियों की सूचना मिली है।

अतः "यदि वे भारत में होतीं तो उनके खिलाफ भारतीय दण्ड संहिता, धारा 124-ए या 124-ए/109 के अंतर्गत कार्रवाई की जा सकती थी।"

श्रीमती कामा के खिलाफ कार्रवाई करने और उनकी सम्पत्ति को जब्त करने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों ने अपने आपको किस तरह कानूनी पेचीदगियों में बाँधने का प्रयास किया, यह अत्यन्त दिलचस्प है।

इतना तो स्पष्ट है कि ब्रिटिश खुफिया विभाग श्रीमती कामा पर कड़ी निगरानी रखे हुए था।

10

प्रथम विश्व युद्ध

1914 में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध छिड़ते ही कुछ क्रान्तिकारी तुर्कियों के सहयोग के लिए कुस्तुन्तुनिया गए। पी. एन. दत्ता ने वहाँ से श्रीमती कामा के पास सूचना भेजी कि तुर्की लोग बहुत सहानुभूतिशील हैं। श्रीमती कामा ने हरदयाल को वहाँ जाने के लिए राज़ी कर लिया। रिपोर्टों के अनुसार अपनी स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों के बावजूद श्रीमती कामा की सक्रियता कम नहीं हुई।

उन्होंने अपने अखबार में भारतीय सेनाओं का आह्वान करते हुए लिखा कि वे हथियार डाल दें, क्योंकि इस युद्ध से भारत का कोई संबंध नहीं है। उन्होंने इस विषय पर भारतीय सैनिकों से बात करने के लिए पेरिस से मार्सेल्स तक की यात्रा भी की।

इस घटना के बाद फ्रांस की सरकार ने उन्हें पहले विची में और फिर बोर्दिओ में नजरबन्द कर दिया। बर्तानिया ने फ्रांस की सरकार से श्रीमती कामा को उनके हवाले कर देने की माँग की। फ्रांस की सरकार ने यह माँग पूरी करने से इनकार कर दिया। अगर उन्हें ब्रिटिश सरकार के हवाले कर दिया जाता, तो शायद उन्हें गोली मार दी गयी होती।

'यूरोप में भारतीय आन्दोलन' के बारे में खुफिया अपराध शाखा की साप्ताहिक रिपोर्ट के अनुसार "एक सितम्बर को श्रीमती कामा से पुलिस अधिकारियों ने इस बात का आश्वासन माँगा कि विश्व युद्ध के दौरान वे अपनी राजद्रोहात्मक कार्रवाइयों को बंद रखेंगी। उन्हें चेतावनी

भी दी गयी कि यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो परिणाम अच्छा नहीं होगा। श्रीमती कामा ने अपेक्षित आश्वासन देने के बाद जर्मन कैदियों से मिलने की अनुमति चाही। उनकी प्रार्थना नामंजूर कर दी गयी। कहा जाता है कि वे फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी सरकारों के विरुद्ध अत्यन्त कटु हो गयी हैं और अमरीका पलायन करने की योजना बना रही हैं।''

जो भारतीय सैनिक उस समय वहाँ थे उन पर श्रीमती कामा के प्रभाव की आशंका से ब्रिटिश सरकार ने अपने मित्र देश से माँग की कि श्रीमती कामा को किसी उपनिवेश में देश निकाला दे दिया जाये। जीवन के इस संकटकाल में उनके रूसी मित्रों ने उनकी सहायता की। उन्होंने फ्रांस के समाजवादियों से सम्पर्क किया। वे श्रीमती कामा के फ्रांस में बने रहने की अनुमति लेने में सफल हो गए। श्रीमती कामा को विची के एक सीलन भरे किले में अकेले नज़रबन्द कर दिया गया और राना जी को उनकी पत्नी और पुत्र सहित एक फ्रांसीसी उपनिवेश में नज़रबन्द रखा गया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उस टापू पर उनकी पत्नी और पुत्र की मृत्यु हो गयी।

श्रीमती कामा को फ्रांस में रहने की इजाज़त उनके फ्रांसीसी समाजवादी मित्रों और रूसी मित्रों के कारण मिल गयी। इस दौरान उनका स्वास्थ्य एकदम बिगड़ गया। फिर भी युद्ध के उपरान्त उन्होंने पेरिस में अपने दल को पुनः संगठित करने का प्रयत्न किया। ब्रिटिश सरकार ने श्रीमती कामा को भारत लौटने की अनुमति देने से बार-बार इनकार किया। आखिर 1934 में, 74 वर्ष की आयु में, स्वास्थ्य के निरंतर गिरते जाने के कारण, विशेष तौर पर उन्हें भारत में अपने घर लौटने की इजाज़त मिल गयी। अन्ततः 1935 में श्रीमती कामा भारत लौट आयीं और लगभग 10 महीने की लम्बी बीमारी के बाद 12 अगस्त 1936 को एक अनजान लावारिस व्यक्ति की तरह बम्बई के पारसी खैराती अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गयी। सावरकर ने अपनी आत्मकथा में इस संदर्भ में लिखा है.....

> ''एकदम अज्ञात और कृतघ्न वातावरण के बीच बम्बई में श्रीमती कामा की मृत्यु बिना किसी की जानकारी के हो गयी।''

11

श्रीमती कामा और मार्क्सवाद

श्रीमती कामा पहली देशभक्त भारतीय थीं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की गहरी समझ और समाजवादी आदर्शों में आस्था थी। इस विशिष्ट क्रान्तिकारी भारतीय महिला ने अपना सारा जीवन भारत के स्वाधीनता संघर्ष के प्रति समर्पित कर दिया था। स्तुतगार्त से वापसी के बाद वे बराबर लेनिन और रूसी जनता के संघर्ष के महत्व की चर्चा करती रहीं। वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के अनुसार, जो स्वयं महान् क्रान्तिकारी थे, श्रीमती कामा पहली भारतीय महिला बल्कि वस्तुतः पहली भारतीय क्रान्तिकारी थीं, जो लेनिन से प्रेरित और प्रभावित हुई थीं। 18 मार्च 1934 को, पेरिस कम्यून दिवस के अवसर पर लेनिनग्राद में बोलते हुए उन्होंने कहा था : "मैंने लेनिन के बारे में पहली बार 1910 की ग्रीष्म ऋतु में उस समय सुना जब मैं पेरिस में भारतीय राजनीतिक प्रवासियों की बस्ती में शामिल हुआ। मुझे उस समय गिरफ्तारी के तात्कालिक खतरे से बचाव के लिए इंग्लैंड से भागना पड़ा था। इन प्रवासियों में एक महिला थीं, भीखाई जी कामा। वे समाजवादी होकर फ्रांस की समाजवादी पार्टी की सदस्या हो गयी थीं। प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने 1907 में द्वितीय समाजवादी इंटरनेशनल के स्तुतगार्त सम्मेलन में भाग लिया। लेनिन ने बिना नामोल्लेख किए भारतीय प्रतिनिधियों की उपस्थिति की चर्चा की है। भीखाई जी कामा हमें लेनिन और

रूस के समाज-प्रजातंत्रवादियों के बारे में, साथ ही युद्ध तथा राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार जैसे प्रश्नों पर उनके रवैये के बारे में बताया करती थीं। किन्तु उस समय, समाजवादी प्रजातांत्रिक पार्टी के विभाजन और उसमें लेनिन की भूमिका के अत्यधिक महत्व के बारे में हम में से किसी की समझ में नहीं आता था।"

निश्चय ही श्रीमती कामा ने रूसीक्रांति में गहरी दिलचस्पी ली थी। उन्होंने मिखाइल पाब्लोविच नाम के उस रूसी क्रांतिकारी से निकट संबंध बना रखे थे, जो कुछ समय के लिए पेरिस में निर्वासन के दौरान रहा था। श्रीमती कामा को इससे पहली रूसी क्रान्ति, उसकी प्रेरक शक्तियों, लक्ष्यों और समाजवादी आदर्शो की जानकारी हासिल करने में मदद मिली। पाब्लोविच ने लिखा था : "कामा रूस की क्रान्तिकारी घटनाओं में, विशेषकर 1905 की क्रान्ति में बहुत अधिक दिलचस्पी लेती थीं। वे इस आन्दोलन में श्रमिक वर्ग की भूमिका के बारे में जानना चाहती थीं। इन्हीं दिनों उन्होंने मार्क्सवाद के सिद्धान्त के बारे में भी कुछ साहित्य पढ़ा था।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्रीमती कामा पर मार्क्सवाद का, विशेष रूप से लेनिन के सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रभाव था। वे उस युग के महत्व को समझती थीं। इसी कारण वे मनोयोगपूर्वक लेनिन की भूमिका का अनुसरण कर रहीं थीं।

ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता जिससे साबित किया जा सके कि फ्रांसीसी समाजवादी पार्टी से फ्रांस की कम्यूनिस्ट पार्टी के अलग होने के बाद वे उसमें शामिल हुईं या नहीं। किन्तु डा. भूपेन्द्रनाथ दत्त ने अपने अप्रकाशित राजनीतिक इतिहास में कहा है कि श्रीमती कामा वामपंथी थीं। वे रूसी बोल्शेविकों के विचारों से सहमत थीं। 1925 में भारत लौटने के पहले डॉ॰ दत्त उनसे मिलने गए तो उन्होंने मिली-जुली अंग्रेजी और फ्रांसीसी में उनसे कहा "एडमिरल तोजो की तरह अपने झण्डे को बुलन्द रखना और भारत के मजदूरों और किसानों को संगठित करना।"

12

रूस की क्रान्ति

किसी क्रान्तिकारी सिद्धान्त की खोज में जैसे-जैसे दिन गुजरते गए, कामा और उनके मित्रों ने रूसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के अनुभव का अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। श्रीमती कामा को सबसे पहले उन रूसी नरोदनिक्स के इतिहास ने आकर्षित किया, जिन्होंने जार की तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वैयक्तिक आतंकवाद की रणनीति का उपयोग किया था। उनका आदर्श थी साहसी क्रान्तिकारी महिला सोफिया पेरोटस्काया, जिसे जार एलेक्जेंडर तृतीय पर कातिलाना हमला करने के जुर्म में फाँसी दे दी गयी थी। ब्रिटेन में अपने एक भाषण में श्रीमती कामा ने उसका उल्लेख एक ऐसी विश्वविख्यात वीरांगना के रूप में किया जिसे उदाहरण माना जाना चाहिए। बाद में वे रूस की 1905 की क्रान्ति की ओर आकर्षित हो गयीं। वे क्रान्तिकारी आन्दोलन में जन समूह की भूमिका पर विचार करते हुए इस नतीजे पर पहुँचीं कि संघर्ष में सफलता आतंकवादियों के छोटे से गुट के साहसिक कारनामों से नहीं बल्कि केवल सामूहिक प्रयास या जनआंदोलन से प्राप्त की जा सकती है।

उन्होंने यह तो समझ ही लिया था कि यूरोप का श्रमिक वर्ग भारत के राष्ट्रीयमुक्ति-आन्दोलन का समर्थक था। फ्रांस के समाजवादियों से उनकी गहरी मित्रता हो गयी और वे पेरिस में समाजवादी पार्टी की

सदस्या वन गयीं।

स्तुतगार्त सम्मेलन में उन्होंने रूसी जनता की ओर विशेष ध्यान दिलाते हुए उनके वीरतापूर्ण संघर्ष की प्रशंसा की। उनकी घोषणा थी कि "हम मुक्ति के लिए संघर्षरत अपने रूसी कॉमरेडों के प्रति अपनी भाईचारे की शुभकामनाएँ प्रेषित करते हैं।" उपस्थित श्रोता समूह ने तालियों की गड़गड़ाहट से इस घोषणा का स्वागत किया।

पेरिस में श्रीमती कामा की गहरी मित्रता रूसी समाज-प्रजातंत्रवादियों से हो गयी। मिखाइल पाब्लोविच ने उनके बारे में लिखा : "अपने खराब स्वास्थ्य के कारण वे कहीं से भी युवती नहीं लगती थीं किन्तु उसमें आत्मिक शक्ति और जीवन्तता थी। उन्हें देखकर एक अच्छे कॉमरेड का प्रभाव पड़ता था। इसीलिए हम लोगों के बीच बहुत जल्दी मित्रता हो गयी।" वे अक्सर भारत में स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रश्न पर विचार-विमर्श करते थे। इन लोगों में न श्यामजी कृष्णवर्मा ने और न राना जी ने बल्कि केवल श्रीमती कामा ने रूसी क्रान्ति में दिलचस्पी ली, और उसे भारत के लिए अनुसरणीय प्रेरक दृष्टान्त के रूप में देखा।

1917 की रूसी क्रान्ति ने श्रीमती कामा के मन में नयी आशा जगायी। उन्होंने उससे संबंधित घटनाओं पर गहरी नज़र रखी। जब पाव्लोविच घर के लिए रवाना होने लगे तो उन्होंने गोर्की से अपने संबंध दोबारा कायम करने का प्रयास किया। उन्होंने गोर्की को एक पत्र लिखकर उसे रूस में प्रकाशित करने का अनुरोध किया। दुर्भाग्य से वह पत्र खो गया। स्मरण दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि रामानन्द चट्टोपाध्याय ने भी **प्रवासी** और **मॉडर्न रिव्यू** में 1905 की रूसी क्रान्ति के बारे में लिखा था। गांधीजी ने भी अफ्रीका से **इण्डियन ओपिनियन** नाम की पत्रिका में 1905 की क्रान्ति का अभिनन्दन जार के तानाशाही शासन के विरुद्ध रूसी जनान्दोलन कहकर किया था। दोनों लेखकों ने सेंट पीटर्सबर्ग के पीटर एण्ड पैन नामक किले में कैद मैक्सिम गोर्की की रिहाई की माँग की थी। आश्चर्य की बात है कि

न गांधी जी को और न ही रामानन्द बाबू को 1905 के इस विद्रोह में रूस की सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी और मार्क्सवाद की भूमिका की कोई जानकारी थी, जबकि श्रीमती कामा इससे पूर्णतः अवगत थीं। अतः यह कहना उचित न होगा कि श्रीमती कामा पहली भारतीय मार्क्सवादी और अन्तर्राष्ट्रवादी थीं जिन्होंने 1917 की क्रान्ति के महत्व को सही समझा था और जो भारत और सोवियत रूस के बीच मैत्री का मूल्य जानती थीं। जब हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि श्रीमती कामा ने इस बात को स्तुतगार्त सम्मेलन के समय 1907 में ही समझ लिया था, तो उनका महत्व और अधिक बढ़ जाता है।

13

गोर्की से सम्पर्क

पेरिस-प्रवास के दौरान श्रीमती कामा जितना अधिक रूसी क्रान्ति से परिचित होती जा रही थीं, उतना ही अधिक उन पर रूस के प्रगतिशील साहित्य का, विशेषकर गोर्की की रचनाओं का प्रभाव बढ़ रहा था। वे गोर्की की स्वतंत्रता और प्रकाश की तृष्णा जगाने वाली रचनाओं– 'द सॉङ्ग ऑफ़ द फैल्कन' (बाज़-गीत) और 'फ्रैंजी ऑफ़ द ब्रेव' (बहादुरों का उन्माद) से विशेष प्रभावित थीं। श्रीमती कामा ने पाब्लोविच से गोर्की के बाज़-गीत को फ्रांसीसी में अनुवाद करने का अनुरोध किया और जब उन्हें यह अनुवाद प्राप्त हुआ तो उन्होंने आवेश से कहा : "यह किसी भी लेख से बेहतर रचना है।"

मैक्सिम गोर्की से श्रीमती कामा का पत्र-व्यवहार हुआ था। उन्होंने गोर्की को भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के संबंध में साहित्य भेजा था। गोर्की ने श्रीमती कामा से रूसी पत्रिका **रशियन डेमोक्रेसी** के लिए लेख लिखने का आग्रह किया था। उन्होंने श्रीमती कामा को लिखा : "गंगा के तटों के निवासी, महान भारत देश के लोकतंत्रवादी और महिलाएँ, कैसे जीवनयापन और संघर्ष करते हैं, इस बात की जानकारी देने के लिए रूस की महिलाएँ आपके प्रति कृतज्ञ होंगी।" श्रीमती कामा ने उत्तर दिया : "मेरा सारा समय और

शक्ति मेरी मातृभूमि के हेतु और संघर्ष के प्रति समर्पित है। मैं आपके अनुरोध का पालन करने के लिए, हर संभव प्रयास करूँगी।" ये पत्र इस महान् रूसी लेखक के अभिलेखागार में, श्रीमती कामा के चित्र के साथ सुरक्षित हैं। इस चित्र में वे लहराते हुए भारतीय ध्वज के निकट खड़ी हैं।

14

पत्रकार के रूप में

श्रीमती कामा ने सितम्बर 1909 में 'वन्दे मातरम्' का प्रकाशन आरंभ किया। इस पत्रिका का निश्चित उद्देश्य था राष्ट्रभक्ति की ज्योति को जलाए रखना और सूचनाओं तथा ज्ञान का प्रचार करना। वे अखबार की शक्ति को भली भाँति समझती थीं। 1907 में अमरीका जाने से पहले उन्होंने "इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट" को लिखे एक पत्र में इस बात के महत्व पर बल दिया था कि "पेरिस में एक केन्द्रीय प्रेस होना चाहिए जो तानाशाह अंग्रेज़ों की पहुँच के परे हो ताकि हम सब भारतीय भाषाओं में आवश्यक परिपत्र आदि छाप सकें।...हर भारतीय को इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिए कि यदि हमारे तथाकथित ब्रिटिश शासक हमारे देश में दमन की रूसी पद्धति को लागू करते हैं तो हमें जैसे को तैसा जवाब देना होगा। रूसी क्रान्तिकारी अपनी सारी सामग्री स्विट्ज़रलैण्ड में छपवाते हैं। इस तरह उन्हें श्री पाल जैसे मूल्यवान व्यक्तियों की स्वतंत्रता के बारे में कोई खतरा नहीं रहता।

स्मरण दिलाना प्रासंगिक होगा कि जब फ़िरोजशाह मेहता ने 'बाम्बे क्रॉनिकल' निकालना आरम्भ किया था तो भी भीखाई जी ने उन्हें सहयोग दिया। पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरने वाली वे पहली पारसी महिला थीं। विदेश में रहते हुए क्रान्तिकारी सामग्री के प्रकाशन

में यह अनुभव उनके बहुत काम आया।

क्रान्तिकारी गतिविधियों की तेजी की रोकथाम के लिए सरकार ने कठोर कदम उठाए। एक साथ राजद्रोहात्मक सभा निरोधक नियम, विस्फोटक उपादान अधिनियम, भारतीय दण्ड-कानून संशोधन अधिनियम, प्रेस अधिनियम जैसे अनेक अधिनियम बनाए गए। परिणाम इतना ही हुआ कि क्रान्तिकारी संगठन भूमिगत हो गए।

प्रेस अधिनियम के बारे में 'वन्दे मातरम्' के मार्च 1910 के अंक में श्रीमती कामा ने लिखा कि यह भारत सरकार की पराजय की स्वीकृति और क्रान्तिकारी पार्टी की कार्यक्षमता की प्रशस्ति का प्रमाण है। उन्होंने इस बात पर वल दिया कि इस अधिनियम का प्रभाव उनके उद्देश्य पर नहीं पड़ेगा क्योंकि क्रान्तिकारी पुस्तकें और पत्रिकाएँ विदेशों में छपती हैं। उन्होंने लिखा : "इस बात को स्वीकार करना आवश्यक है कि भारत में विदेशों से क्रान्तिकारी साहित्य का आयात पार्टी का एकमात्र अवलंब है।" तथा "राजनीतिक क्रियाकलाप का गुरुत्व-केन्द्र कलकत्ता, पूना और लाहौर से पेरिस, जेनेवा, बर्लिन, लंदन और न्यूयार्क स्थानान्तरित हो गया है।"

ब्रिटिश अधिकारी, फ्रांसीसी अधिकारियों को इस बात के लिए राजी नहीं कर सके कि वे ब्रिटिश-विरोधी क्रियाकलापों के लिए श्रीमती कामा को उनके हवाले कर दें। परिणामतः उन्होंने हमेशा के लिए उनके भारत प्रवेश पर पाबंदी लगा दी। प्रतिक्रियास्वरूप श्रीमती कामा ने 'वन्दे मातरम्' में ब्रिटिश राज पर उग्रतम प्रहार किया। उन्होंने उसका प्रकाशन ज़ेनेवा से किया ताकि उन फ्रांसीसियों को धर्मसंकट पैदा न हो जिनका आतिथ्य वे ग्रहण कर रही थीं। यह पत्रिका लगभग नौ वर्ष तक निकलती रही। इसी के माध्यम से उन्होंने ब्रिटिश सरकार से भारत छोड़ने की माँग की। भारत के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करने वाली वे पहली महिला थीं। कई वर्ष बाद इसी माँग को पहले तिलक ने और फिर गांधी ने दोहराया।

'वन्दे मातरम्' के अतिरिक्त 1910 में वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने

बर्लिन से 'तलवार' का प्रकाशन आरम्भ किया। यह अखबार 'अभिनव-भारत' का मुख-पत्र था। जैसा नाम से व्यंजित होता है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए इसमें हर तरह की कार्रवाई का समर्थन किया जाता था जिसमें राजनीतिक हिंसा भी शामिल थी। इसका पर्यवेक्षण और वितरण भी श्रीमती कामा को सौंप दिया गया था। यह अखबार वास्तविक क्रान्ति की प्रारम्भिक तैयारी के तौर पर राजनीतिक हत्याओं की हिमायत ले रहा था। दोनों अखबार भारत में प्रतिबन्धित थे। किन्तु क्रान्तिकारी अखिल विश्व में अपने साथी देशभक्तों के बीच इन अखबारों का वितरण करते थे, क्योंकि ब्रिटिश सरकार कानूनी तौर पर दूसरे देशों को जाने वाली डाक को रोक नहीं सकती थी।

श्रीमती कामा ने इन पत्रिकाओं का उपयोग बराबर युवा क्रान्तिकारियों को प्रेरित करने के लिए किया। उनकी दृष्टि केवल भारत तक सीमित नहीं थी। वे इसे एक बुनियादी समस्या के रूप में देखती थीं और अक्सर अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में अपनी बात को कहती थीं। गृह-विभाग की रिपोर्टों में उनके लेखों का हवाला मिलता है। जिल्द II, संख्या 3 में श्रीमती कामा के एक हस्ताक्षरित लेख का उद्धरण है :

> "युवा हिन्दुस्तान, युवा मिस्र और युवा आयरलैंड, मैं आपके लिए 'रूसी क्रान्ति की व्यवस्था कैसे करते हैं' शीर्षक वाली पुस्तिका को पुनः प्रकाशित करूँगी। मेरा विचार है आपको यह पुस्तिका दिलचस्प भी लगेगी और शिक्षाप्रद भी। मेरे युवा मित्रो और कॉमरेडो, मैं अनुकरण या नकल करने की समर्थक नहीं हूँ पर विभिन्न पद्धतियों का अध्ययन करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि तभी हम इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि हमारी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों की दृष्टि से सर्वाधिक ग्राह्य पद्धति कौन सी है।"

भारत के संदर्भ में हिंसा का सीधे समर्थन करते हुए उन्होंने यूरोप के हिन्दुओं को संबोधित करते हुए सितम्बर 1911 में कहा :

"मैं आपके राष्ट्रप्रेम से अपील करती हूँ कि पश्चिम में अपने

प्रवास का अधिक से अधिक लाभ, हर प्रकार का शारीरिक प्रशिक्षण करके उठाइये (जिसकी अनुमति हमारे देश में नहीं है)। सबसे ज्यादा ज़रूरी है सीधे गोली मारना सीखना क्योंकि वह दिन दूर नहीं है जब 'स्वराज' और 'स्वदेशी' की विरासत के कारण तुमसे अपेक्षा की जायेगी कि तुम अंग्रेजों को उस देश से गोली मारकर निकाल दो जिससे तुम इतना उत्कट प्रेम करते हो।" (जिल्द III , संख्या 1)

एक पत्रकार की हैसियत से वे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का आदर करती थीं। उन्होंने अपने मित्रों को लेख भेजने के लिए आमंत्रित किया तो इस आश्वासन के साथ : "मेरे देशभक्त साथियो मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ, मैं पूरी जिम्मेदारी लेती हूँ और आप जितनी दृढ़ता से लिखना चाहें लिखें। किसी लेखक का नाम न प्रकाशित किया जाएगा न बताया जाएगा (जब तक कोई लेखक अपने लेख पर हस्ताक्षर न करे) और सभी पाण्डुलिपियाँ अखबार के बाहर पहुँचने से पहले नष्ट कर दी जाएँगी" (जिल्द IV, सितम्बर 1916)।

श्रीमती कामा अपनी कलम की ताकत से बराबर संघर्ष करती रहीं पर उन्होंने बन्दूक की ताकत से कभी इनकार नहीं किया जिसे वे बार-बार "अंग्रेज़ को गोली मारकर, भारत से निकाल देना" कहती थीं। उन्होंने समझ लिया था कि केवल भाषणों का समय गुज़र गया, अब व्यावहारिक, ठोस और फलप्रद कार्य करने का वक्त आ गया है। ज़रूरत सिर्फ बहादुरी भरे शब्दों की नहीं, बल्कि ऐसे शब्दों की है जिनके पीछे कार्य, व्यावहारिक सेवा और त्याग की शक्ति हो। इस आदर्शवादी नारी का एक बहुत व्यावहारिक पक्ष था। अपनी प्रेरक वाणी से उन्होंने युवा क्रान्तिकारियों को वस्तुगत और तकनीकी दोनों प्रकार की सहायता देने के लिए संघर्ष किया!

सावरकर की गिरफ्तारी के बाद भी राजनीतिक हत्याओं की नीति का परित्याग नहीं किया गया। जब टेनेवेली के जिला मजिस्ट्रेट श्री ऐश की हत्या हुई, तो जिल्द II, संख्या 12, अगस्त 1911 के

'वन्दे मातरम्' में टिप्पणी की गयी :

"नीति स्पष्ट है। हमने अंग्रेजों को धराशायी करके बहुत ठीक किया है, क्योंकि उन्हें हमने, अच्छी तरह चेतावनी दे दी है कि हमारे और उनके बीच जो युद्ध अनिवार्यतः होना है, उसकी शुरुआत हो चुकी है। जब भी कोई बहादुर देशभक्त किसी अंग्रेज को मौत के घाट उतारेगा, हम खुशी मनाने का सिलसिला इसी तरह जारी रखेंगे।"

ये कठोर शब्द एक स्त्री के हैं, वह भी ऐसी स्त्री जो अन्यथा संवेदनशीलता और दया की मूर्ति समझी जाती थी। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि श्रीमती कामा ऐसी स्त्री थीं जिसका निश्चित मिशन था।

15

नारी भीखाई जी

जन्म के समय उनका नाम रखा गया भीखाई जी। एक लाडली और हँसमुख बच्ची के लिए निहायत बोझिल और आडम्बरपूर्ण नाम। बाद में अपनी लाडली बेटी पर मोहित रहने वाले पिता ने नाम का संक्षेपण किया....भीकू और फिर वे जीवन भर मित्रों और परिवार के लिए भीकू ही बनी रहीं।[1]

ब्रिटिश अधिकारियों की नज़रों में जो एक अत्यन्त खतरनाक विद्रोहिणी थीं, विदेशी समाज जिन्हें "भारतीय क्रान्ति की जननी" के रूप में, काली के अवतार के रूप में जानता था, उनके अपने पारसी संबंधी उन्हें "खतरनाक क्रान्तिकारिणी' मानते थे और उनके साथ संबंध रखने से कतराते थे। ऐसी श्रीमती कामा के इस बाहरी रूप की सतह के बहुत निकट एक अत्यन्त कोमल-हृदया मातृवत् नारी छिपी थी। उनके इस रूप की अनगिनत झाँकियाँ उन लोगों के वैयक्तिक संस्मरणों और लेखों में मिलती हैं जो उन्हें जानते थे या उनसे मिले थे। कई लोगों ने युवा क्रान्तिकारियों के प्रति उनके स्नेह और सरोकार की, आर्थिक और दूसरी कठिनाइयों में उनके प्रति उनकी उदारता की चर्चा की है। सावरकर अपने को उनका दत्तक पुत्र कहते थे। अंडमान

1. नोटः पारसी समाज में लड़के का नाम भीखाजी रखा जाता है और लड़की का भीखाई जी। श्रीमती कामा के तमाम पत्र इस बात के प्रमाण हैं कि वे अपने हस्ताक्षर 'BHIKHAI JI' करती थीं BHIKHA JI नहीं। उनके बारे में लिखने वालों से इस विषय में भूल-चूक होती रही है।

जेल में अपनी कोठरी से उन्होंने लिखा था "मैं उनके कुलीन जीवन और ज़रूरतमन्द और दुःखी लोगों के लिए उनके सरोकार का न जाने कितना आदर करता हूँ।"

'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया' के 28 जनवरी 1962 के अंक में श्री ए० के० सेट्ट का एक लेख छपा था—"भीकू कामा : स्मृतियों का फलक।" लेखक ने बड़ी संवेदनशीलता से उस वातावरण का वर्णन किया है जिसमें वे श्रीमती कामा से मिले। जब उनकी माँ ने श्रीमती कामा से उनका परिचय कराया तो उन्होंने लेखक को स्नेह से गले लगा लिया। एक अँधेरी-सी बैठक में उनके साथ कुछ बूढ़े स्त्री-पुरुष थे। इनमें से अधिकांश फ्रांसीसी थे जिनकी दिलचस्पी श्रीमती कामा को हम लोगों के साथ गुजराती में बात करते हुए सुनने में थी। श्रीमती कामा की गति अंग्रेज़ी के अलावा कई यूरोपीय भाषाओं में थी पर अपने साथी देशभक्तों और मित्रों से वे हिन्दी या गुजराती में ही बात करना पसन्द करती थीं। श्री सेट्ट ने इस बातचीत का वर्णन करते हुए लिखा कि "जब हम बातचीत करते हुए हंसते थे तो कमरे में बैठे लोग हमारे साथ हँस पड़ते थे। जब हम मुस्कुराते थे तो वे लोग भी दाँत निकाल देते थे और जब हमारी बातचीत में विषाद का स्वर आता था, तो वे पुरुष और महिलाएँ उदास हो जाते थे।"

श्रीमती कामा ने उनसे अपने सब संबंधियों की चर्चा की जिनमें जीवित और मृत दोनों शामिल थे। वे उनके बारे में हर संभव जानकारी पा लेना चाहती थीं। भारत से इतने लम्बे समय तक अनुपस्थित रहने के कारण उन्हें सभी के विषय में बहुत जिज्ञासा थी। अपने पति रुस्तम के. आर. कामा से भी उनका अलगाव वर्षों पहले हो गया था। वे कभी उनकी निन्दा नहीं करती थीं। श्री सेट्ट ने उनसे पूछा कि वे भारत क्यों नहीं लौट आतीं। उन्होंने उत्तर दिया : "क्योंकि ब्रिटिश सरकार मुझसे अपने विगत 'अपराधों के लिए लिखित माफ़ीनामा चाहती है और साथ ही इस बात का आश्वासन' भी कि मैं भविष्य में राजनीति में भाग नहीं लूँगी।" श्री सेट्ट ने प्रश्न किया कि "तुम

ऐसा क्यों नहीं कर सकतीं ? अब तो तुम राजनीति में भाग लेने के लिए बहुत वृद्ध भी हो गयी हो।" उन्होंने बहुत सख्ती और रोष के साथ उत्तर दिया "मैं राजनीति में हिस्सा लेने के लिए कभी वृद्ध नहीं हो सकती। मैं पूरे भारत में राजनीतिक सभाओं को सम्बोधित करना चाहूँगी।" उनकी यह इच्छा पूरी होनी तो क्या ही सम्भव थी, पर इस संवाद से उनकी अदम्य अन्तरात्मा का प्रमाण मिलता है।

श्रीमती कामा असाधारण सुन्दरी थीं। अपनी युवावस्था में जिन लोगों से उनका सम्पर्क हुआ वे सभी उनके आकर्षक व्यक्तित्व से अभिभूत थे। 1907 में जब वे अमरीका का दौरा कर रही थीं, 'द सन' अखबार के संवाददाता ने उनका चित्र इन शब्दों में उतारा :

श्रीमती कामा ने वाशिंगटन के मार्था होटल के अपने कमरे में शालीनतापूर्वक उत्साह के साथ अपने को प्रस्तुत किया। वे एक आकर्षक महिला हैं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों का रंग पूर्वी भारतीयों में प्रायः पाई जाने वाली आँखों से कुछ हल्का है। उनकी आवाज मीठी और मधुर है। वे कई अन्य भाषाओं के अलावा बहुत अच्छी अंग्रेजी बोलती हैं। उनकी वेशभूषा में अपने जातीय लहराते हुए कपड़ों के साथ आधुनिक यूरोपीय वस्त्रों का सामंजस्य दिखायी पड़ता है।

आगे चलकर जैसे-जैसे उनका स्वास्थ्य बिगड़ता गया वे अपने रूप-रंग के बारे में लापरवाह हो गयीं। क्रान्तिकारी जीवन के कष्टों के कारण वे तेजी से बूढ़ी हो गयीं। जब उन्होंने मुश्किल से साठ पार ही किए थे, उनसे मिलने वाले लोगों ने उस समय के उनके बुढ़ापे और झुर्रियों का वर्णन किया है।

'लाइफ एंड माइसेल्फ' (मैं और जीवन) में हरीन्द्र चट्टोपाध्याय ने 1921 के आसपास के समय का जिक्र किया है। उस समय श्रीमती कामा 60 वर्ष की ही थीं :

"चलने से पहले हमारी भेंट एक बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति से हुई। विदेश के क्रान्तिकारियों के बीच उनका नाम एक संकेत-शब्द था। वे एक वृद्ध, झुर्रियों वाली महिला थीं। उनकी कलाइयाँ और हाथ बड़े

बड़े थे और उनका चेहरा भारतीय क्रान्ति का प्रत्यक्ष इतिहास लगता था। उस चेहरे पर खिंची हर रेखा एक ऐसा वाक्य था जो भारत को स्वतन्त्र करने में सहायता करने के संकल्प को व्यक्त कर रहा था। वे घोषणा कर चुकी थीं :

"मैं गुलामों के देश भारत कभी नहीं लौटूँगी। मैं वहाँ तभी जाऊँगी जब वह स्वतंत्र हो जाएगा। मेरे इतनी अधिक संख्या में बहादुर बेटे हैं जो अपनी ओर से सब कुछ कर रहे हैं; अपने शरीर का रोम-रोम, रक्त की बूँद-बूँद, जीवन का हर पल वे अपनी मातृभूमि की चिन्ता में बलिदान कर रहे हैं जिसे स्वतन्त्र करने में उन्हें सहायता करनी है"।

चट्टोपाध्याय ने आगे लिखा है—"सही अर्थ में वह महान महिला, सभी प्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारियों और घर से निर्वासित लोगों की वह माँ श्रीमती कामा के नाम से प्रसिद्ध थीं। अब वे नहीं हैं। किन्तु भारत की स्वाधीनता के लक्ष्य के लिए प्रयत्नवान हर योद्धा को यदि उन्हें जानने का सौभाग्य नहीं मिला हो तो उसे उनके बारे में जानना चाहिए।"

जवाहर लाल नेहरू से उनकी मुठभेड़ 1926 में नेहरू के यूरोप के दौरे के समय हुई। उन पर श्रीमती कामा का विचित्र प्रभाव पड़ा, जो शायद सुखद नहीं था। अपनी आत्मकथा में नेहरू ने इस भेंट की चर्चा कुछ इस रूप में की है :

"हमने श्रीमती कामा को देखा। वे जब आपके करीब आकर आपके चेहरे को घूरते हुए आपकी ओर उँगली उठाकर एकाएक पूछती थीं कि आप कौन हैं तो कुछ-कुछ उग्र और भयानक लगती थीं। उत्तर से उन्हें कोई अन्तर नहीं पड़ता था (शायद वे बहरेपन के कारण उसे सुन भी नहीं पाती थीं) क्योंकि वे निजी राय कायम करके उस पर अटल रहती थीं, भले ही तथ्य उसके विपरीत हों।"

कमलादेवी चट्टोपाध्याय पर श्रीमती कामा का प्रभाव कुछ दूसरे ढंग

से पड़ा। वे जब श्रीमती कामा से मिलीं उससे पहले उन्होंने इस ऐतिहासिक व्यक्तित्व के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था। अपनी मुलाकात की चर्चा करते हुए श्रीमती चट्टोपाध्याय ने लिखा है :

उनसे मिलकर मुझे रोमांच हो आया। बर्लिन के अन्य अशान्त साथियों से भिन्न उनका व्यक्तित्व शान्त था। यद्यपि अब भी उनमें पुराना उत्साह शेष था और भारत की स्वाधीनता के बारे में आशावाद भी। बातचीत के दौरान, यह सुखद संयोग था कि मैंने बर्लिन के महिला सम्मेलन में राष्ट्रीय ध्वजा के आविष्कार की आवश्यकता का जिक्र किया। वे सहसा ठठाकर हँस पड़ीं। उन्होंने कहा–"शताब्दी के आरम्भिक दिनों में जब हम तमाम भारतीय विद्यार्थी राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित थे, हमने बड़ी शिद्दत से एक राष्ट्रीय ध्वजा की आवश्यकता उसी तरह महसूस की थी जैसी तुम लोग कर रहे हो। मैंने अपने छोटे से दिमाग पर जोर दिया और एक राष्ट्रीय ध्वजा का आविष्कार कर लिया जिसका उपयोग यूरोप के सभी भारतीय विद्यार्थियों ने किया। इस बात से पुरानी कहावत सिद्ध होती है 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है'। मैंने उन्हें नमन करते हुए कहा : "मान्या, आपका प्रयास, सही अर्थ में आविष्कार था। हमने तो केवल उस ध्वजा की नकल की थी जिसे हमने राष्ट्रीय ध्वज के रूप में स्वीकार कर लिया है। फिर भी हम लोग विपत्ति में बहनें हुई।" यह सुनकर उन्होंने प्यार से पहले मेरा हाथ थाम लिया और फिर गले लगा लिया। मुझे लगा कि मुझे सच्चे अर्थ में उनका आशीर्वाद मिल गया।

श्रीमती कामा के व्यक्तित्व का एक बहुत महत्वपूर्ण पक्ष उनका यह मातृ रूप था, जिसके रहते वे बराबर लोगों की, उनकी आवश्यकताओं की देखभाल करती थीं, आतिथ्य-सत्कार करने का उन्हें चाव था। वे दयालु थीं, उदार थीं, भले ही अपने क्रान्तिकारी रूप में कितनी ही आग उगलती रही हों और हिंसा के लिए प्रेरित करती रहीं हों।

वे क्रान्ति की उग्र जननी ही नहीं थीं क्रान्तिकारियों की स्नेही माँ भी थीं। उन्हीं की सावधानी और सतर्कता के कारण सावरकर और

वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय का ठीक समय पर फ्रांस भाग निकलना संभव हो सका था।

उनके इस नारी रूप की एक और विशेषता थी ठेठ भारतीयता। अपने खान-पान में वे निपट भारतीय रहीं। भारतीय भाषाओं में उनकी अपूर्व निष्ठा थी। उनके सामने यदि कोई अपनी भारतीय पृष्ठभूमि और भाषाओं से अनभिज्ञ होने का ढोंग करता था तो उनके व्यंग्य का शिकार होता था।

सन् 1930 में एक पारसी महिला श्रीमती बानी बाटलीबॉय से श्रीमती कामा की भेंट फ्रांस (विची) में हुई। उनके संस्मरणों में उस समय की श्रीमती कामा का जो चित्र उभरता है वह एक दयालु, ईश्वर-भीरु, धार्मिक मानसिकता वाली अत्यन्त भावुक महिला का चित्र है। उनसे पहली भेंट का वर्णन करते हुए श्रीमती बॅटलीबॉय ने लिखा है कि एक दिन मैं अपने पति और बेटी के साथ पटरी के एक कैफे की मेज़ पर बैठी थी। हम दोनों महिलाओं ने परम्परागत पारसी साड़ी पहन रखी थी। एक वृद्ध महिला ने हमारे पास आकर गुजराती में हमारा स्वागत करते हुए प्रश्न किया कि क्या आप बम्बई से आए हैं? श्रोताओं के चेहरे पर आश्चर्य का भाव देखकर उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा कि वे पेरिस में रहती हैं और कुछ दिनों के लिए विची आई हुई हैं। हमारे नाम सुनकर उन्होंने आवेश में आकर तीनों को खुलेआम गले लगा लिया। उनकी इस हरकत से हमें जो संकोच हुआ उसका बोध होते ही वे बोलीं : "आप शर्म क्यों महसूस कर रहे हैं, हम भारतीयों के अभिवादन का तरीका तो यही है और हम तो संबंधी भी हैं।" वृद्ध महिला ने हमें चाय के लिए अपने घर आमंत्रित किया और हमारे परिवार ने सहर्ष निमंत्रण स्वीकार कर लिया। तब उन्होंने घुड़कते हुए कहा "तुमने स्वीकार कर लिया.....पर मुझसे मेरा पता तक नहीं पूछा। क्या तुम मुझे पूरे विची शहर में ढूँढ़ोगे? कागज पेंसिल निकालो और पता लिख लो।"

कुछ दिन बाद बाटलीबॉय परिवार उनसे मिलने गया। वे अपने

साथ रंग-बिरंगे डेलिया के फूलों का गुच्छा ले गए थे। उन सुन्दर फूलों को देखकर श्रीमती कामा की धुँधलाती आँखों में आँसू भर आए। भावुक होकर उन्होंने कहा "मेरे बम्बई के बगीचे में बड़े सुन्दर फूल थे। इन्हें देखकर उनकी याद ताजा हो गई।"

लगभग पैंतीस साल विदेश में रहकर भी वे अपने जन्म स्थान बम्बई के गुजराती अखबार 'जामे जमशेद' और 'केसरे हिन्द' पढ़ती थीं ताकि अपनी जन्मभूमि से उनका सम्पर्क बना रहे। हर सप्ताह वे भारतीय विद्यार्थियों से मिलने जाती थीं।

श्रीमती बाटलीबॉय ने श्रीमती कामा की उदारता का वर्णन करते हुए लिखा है कि बिदा लेते समय उन्होंने हमारी बेटी को जरी की कढ़ाई का एक चीनी बार्डर उपहार के रूप में दिया जो उस समय भी कीमती था और अब तो वैसी चीज़ केवल कुलागत सम्पत्ति हो सकती है।

कई वर्ष बाद उनकी मुलाकात श्रीमती कामा से फिर हुई जब वे उनसे मिलने पारसी सार्वजनिक अस्पताल गए। तब वे और वृद्ध तथा अशक्त हो गई थीं। उन्होंने श्रीमती कामा को हाथ से बुना एक शाल दिया जो उन्होंने कृतज्ञ भाव से स्वीकार कर लिया। ऐसा लगा कि अस्पताल में उन्होंने पढ़ने की सामग्री माँगी। नर्सों ने समझा कि वे शायद अंग्रेजी ही जानती होंगी और वे इसी हिसाब से अखबार ले आयीं पर श्रीमती कामा को तो अपने 'जामे' और 'कैसरे' चाहिए थे ताकि उन्हें अपने लोगों का समाचार मिल सके। ऐसा था उनका प्रेम अपनी मातृभूमि और मातृभाषा के लिए।

गोरे विदेशियों की उपस्थिति में अधिकांश भारतीय उन दिनों जिस हीन ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाते थे, श्रीमती कामा में उसका लेशमात्र भी नहीं था। वे स्पष्टवादी और निडर थीं। उनके सहकर्मी उनके उत्साह, तथा साहस और उनकी आवेगमय निर्भीक अभिव्यक्तियों पर मोहित रहते थे।

उनमें शिशुओं की सी सरलता थी। पर जब वे बोलती थीं तो

एक अनुभवी क्रान्तिकारी की उत्तेजना और प्रचण्डता से गरजते हुए । जहाँ भी सम्भव बन पड़ता वे हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलती थीं और अपने श्रोताओं के मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ती थीं। निश्चित रूप से उनके पास सरोजिनी नायडू या एनी बेसेंट की सी काव्यात्मक या निर्दोष वाग्मिता नहीं थी, पर उन्होंने इस कमी को गहन निष्ठा से पूरा कर लिया था जो बराबर उनके शब्दों में झलकती थी। उनके कुछ लेख अपनी तार्किक विचारणा के लिए याद किए जाते हैं। वे राजनीतिक समस्याओं की संजग अध्येता थीं। इसीलिए उन्होंने रूसी क्रान्ति औंर लेनिन की भूमिका के महत्व को बखूबी हृदयंगम कर लिया था। उनकी ख्याति एक अत्यन्त व्यावहारिक और समर्थ महिला के रूप में थी जिसमें अद्भुत संगठनात्मक क्षमता थी।

भीखाई जी का साहस दुःसाहस की सीमा का स्पर्श करता था। अपने मित्र आचार्य के शब्दों में "श्रीमती कामा ऐसे बच्चे के समान थीं जो इस बात को जानने की परवाह नहीं करता कि आग से खेलने का क्या अर्थ होता है। वे सीधी, सहज, स्पष्टवादिनी थीं। उनके तौर-तरीकों में न बनावट थी और न पेचीदगी। उनके लिए, किसी व्यक्ति में चरित्र का महत्व ज्ञान से अधिक था। वे बिना छल-कपट के सीधे हृदय से बोलती और लिखती थीं। अपने बोलने और लिखने के खरेपन से वे केवल सम्मोहित ही नहीं करती थीं आहत और विस्मित भी करती थीं। आवश्यकता पड़ने पर वे कठोर शब्दों के प्रयोग से भी नहीं चूकती थीं। मोरले को उन्होंने दुमुँहा साँप कहा था।"

नासिक हत्या कांड के मुकद्दमे के प्रसंग में श्रीमती कामा के साहस के आदर्श उदाहरण का सविस्तार वर्णन डॉ. अविनाशचन्द्र भट्टाचार्य ने अपनी बाङला पुस्तक 'यूरोपेय भारतीयर' विप्लवेर साधना' में किया है :

बम्बई में नासिक हत्याकांड के मुकदमे में अभियुक्तों में से एक सावरकर थे। श्रीमती कामा ने सावरकर के बचाव के लिए बम्बई के वकील बैपतिस्ता को नियुक्त किया।.....मुकद्दमे के दौरान चतुर्भुज

अमीन सरकारी गवाह हो गया और उसने बयान दिया कि वह कैसे पेरिस में राना के घर से एक ब्राउनिंग पिस्तौलों के पैकेट को बम्बई लाया। जैसे ही श्रीमती कामा को यह पता लगा वे समझ गईं कि यह सरदार सिंह राना को इस मामले में फँसाने का प्रयास है और इस बात से खुद सावरकर के लिए खतरा बढ़ जायेगा। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के इन दोनों नेताओं के बचाव के लिए वे बेचैन हो गयीं। अपने साथियों से सलाह किए बिना वे ब्रिटिश महावाणिज्य दूत के दफ्तर पहुँचीं। उनका कार्ड मिलते ही वे दरवाजे पर स्वयं उनसे मिलने आए। संभवतः वे इस उम्मीद से बहुत प्रसन्न थे कि वह बहादुर क्रान्तिकारिणी महिला आत्मसमर्पण करने आयी है और अब पिछले पाँच वर्ष की क्रान्तिकारी गतिविधियों के इतिहास से पर्दा हट जाएगा।

बैठने के बाद श्रीमती कामा ने कहा, "मैं आपको कुख्यात ब्राउनिंग रिवाल्वर की कहानी सुनाने आयी हूँ। यह सही है कि डिब्बा सरदार राना के घर में था पर उन्हें और सावरकर दोनों को उसके बारे में कोई जानकारी नहीं थी। रिवाल्वर मैंने इकट्ठे करके डिब्बे में रखे थे। चतुर्भुज अमीन की सहायता से मैंने ही रिवाल्वर बम्बई भेजे थे। उन रिवाल्वरों के बारे में पूरी जिम्मेदारी मेरी है और अपराधी मैं हूँ।"

वाणिज्य दूत स्तब्ध थे। उन्होंने श्रीमती कामा का बयान रिकार्ड किया और उन्हें रसीद दे दी। घर लौटकर, श्रीमती कामा ने अपने बयान की एक प्रति बम्बई में बापतिस्ता के पास भेज दी पर श्रीमती कामा या राना के नाम वारंट जारी नहीं किए गए। शायद सावरकर के फ़रार होने के प्रयास के संबंध में जो उलझन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हो गयी थी उसके कारण ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को आगे बात बढ़ाने का साहस नहीं हुआ। अपने मित्रों के प्रति उनकी गहरी वफ़ादारी का प्रमाण इस बात से मिलता है कि जब उनके रास्ते अन्तिम रूप से अलग हो गए, जो सपने उन्होंने एक साथ मिलकर देखे थे वे छिन्न- भिन्न हो गए, तब भी श्रीमती कामा ने सावरकर के परिवार का साथ दिया। धींगरा कांड के बाद जब सावरकर को इंग्लैंड

के बाहर खदेड़ दिया गया तो श्रीमती कामा ने उन्हें पुनः स्वास्थ्य लाभ करने में सहायता की। जब हरदयाल इंग्लैंड में निहायत तंगहाली में मात्र छः पैसे प्रतिदिन पर गुजर कर रहा था और इस तरह के जीवन ने उसको मनःश्रान्त बना दिया था तब पेरिस में उसके मित्रों ने उसे सहायता का आश्वासन देकर अपने पास आने के लिए राजी किया ताकि वह पुनः शक्ति-लाभ कर सके। पेरिस में उसकी 'देखभाल' का सबसे अधिक बोझ श्रीमती कामा ने ही उठाया।

सावरकर की रिहाई के पक्ष में जनमत प्रेरित करने के उद्देश्य से जब श्रीमती कामा अनवरत अभियान चला रही थीं उसका वर्णन करते हुए पाब्लोविच ने लिखा : "अपनी उम्र और बीमारी के बावजूद वे खुद और कभी-कभी मेरे साथ, अखबारों के दफ्तरों के चक्कर लगाती थीं और उनसे सावरकर के बारे में कुछ टिप्पणियाँ शामिल करने का अनुरोध करती थीं।"

अपने भाई नारायणराव को अंडमान से सावरकर के लिखे पत्र 'ईकोज़ फ्रॉम अंडमान' में प्रकाशित हुए। इन पत्रों से यह उद्घाटित होता है कि वे श्रीमती कामा की निष्ठा से कितनी गहरायी तक प्रभावित थे।

भीखाई जी के ममत्वपूर्ण मानवीय रूप का एक और प्रमाण अपने भाई आर्देशिर पटेल से उनके संबंध निर्वाह में दिखायी पड़ता है। 1907 तक जब भी उनके कुमार धनी भाई पैरिस आते थे, भाई बहन दोनों एक साथ बड़े ऐशो-आराम से रहते। होटलों के बिल भाई चुकाते। उनके लौटने पर भीखाई ज़ी वापिस अपने सस्ते आवास में लौट जाती थीं। बाद में उनकी राजनीति से असहमति के कारण भाई ने उन्हें दायवंचित कर दिया। उन्होंने दान के रूप में बहुत धन छोड़ा। अपने भाई, भतीजे-भतीजियों के लिए भी उन्होंने भारी रकमें छोड़ीं। यदि उन्होंने श्रीमती कामा के लिए छोटी-सी वार्षिक भृत्ति भी छोड़ दी होती तो उन्हें बहुत मदद मिलती पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। विधि का विधान विचित्र होता है। अपने अन्तिम समय में आर्देशिर को

पेरिस में भीखाई जी की सहायता और सहारे की आवश्यकता पड़ी। बहन ने अत्यन्त निष्ठापूर्वक उनकी सेवा-सुश्रूषा की। उन्होंने बीती बातें भुलाकर भाई को क्षमा कर दिया। मित्रों से वे भावभीने शब्दों में कहा करती थीं : "उन्होंने मेरी बाहों में प्राण त्याग दिए।"

श्रीमती कामा किसी भी तरह की संकीर्ण प्रादेशिक भावना या सांप्रदायिक पूर्वाग्रह से पूर्णतः मुक्त थीं। उनकी दृष्टि में सभी धर्म समान थे, उनका पूरा देश उनकी मातृभूमि था और उसकी समग्र जनता उनका अपना कुटुम्ब था। जात-पाँत, वर्ण, पन्थ के भेद-भाव से मुक्त भारत उनकी दृष्टि में सब भारतीयों का था। उन दिनों जब स्त्रियाँ सार्वजनिक जीवन में बहुत कम भाग लेती थीं, उन्होंने अपने स्वप्न.....देश की एकता और स्वतंत्रता के लिए पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम किया। अपने विश्वव्यापी दृष्टिकोण और अंग्रेजी शिक्षा की पृष्ठभूमि के बावजूद वे आश्चर्यजनक रूप से भारतीय संस्कृति और मूल्यों की प्रशंसक थीं। वे गरज कर कहती थीं, "भारत में किसी अंग्रेज़ी बलूत की ज़रूरत नहीं है। हमारे पास अपना गरिमामय बरगद वृक्ष और सुन्दर कमल के फूल हैं। हम अंग्रेज़ी सभ्यता का अनुकरण नहीं करना चाहते। नहीं जनाब, हमारी अपनी सभ्यता है जो अधिक भव्य और ऊँची है।"

उनका एक और प्रबल विश्वास था स्त्री और पुरुषों की समानता। वे स्वाधीनता आन्दोलन और सामाजिक परिवर्तन में स्त्रियों की भूमिका के बारे में बहुत सजग थीं। 1910 में वे मिस्र के राष्ट्रीय सम्मेलन की एक सभा को संबोधित कर रहीं थीं जिसमें केवल पुरुष उपस्थित थे। उन्होंने तत्परता से सवाल करते हुए कहा कि : "बाकी आधा मिस्र कहाँ है ?" अपनी बात जारी रखते हुए उन्होंने कहा :

"मैं यहाँ केवल आधे मिस्र के प्रतिनिधियों को देख रही हूँ। सभा केवल पुरुषों से भरी है। मिस्र के बेटो, तुम्हारी माताएँ कहाँ हैं ? तुम्हारी बहनें कहाँ हैं ? मत भूलो कि जो हाथ पालना झुलाता है, वही हाथ व्यक्ति को आकार देता है, चरित्र का निर्माण करता है।

राष्ट्र के जीवन में वह कोमल हाथ ही मुख्य घटक होता है। उस शक्तिशाली हाथ की उपेक्षा कभी न करना।"

प्राच्य क्लबों और सभाओं में, यहाँ तक कि वहाँ भी जहाँ पर्दा ज़रूरी था, श्रीमती कामा का स्वागत और प्रशंसा होती थी। मिस्र का युवावर्ग उन्हें विस्मय और श्रद्धा से देखता था। उनकी सलाह की अपेक्षा करता था। अगर स्त्री होकर वे क्रान्तिकारी हो सकती हैं तो वे पीछे क्यों रहें।

भारत के बाहर उनकी छवि लोगों के मन में किस रूप में अंकित थी इसका अनुमान श्रीमती एलविन राय के उस कथन से लगाया जा सकता है जिसका हवाला डॉ. भूपेन्द्रनाथ दत्त ने अपनी पुस्तक 'अप्रकाशित राजनीतिक इतिहास' में दिया है। मास्को में प्रस्तावित एक महिला सम्मेलन के बारे में सूचना देते हुए श्रीमती राय ने उनसे कहा कि उसमें "मुझसे एक सच्ची हिन्दू महिला को लाने के लिए कहा गया है। मैं प्रयत्न करूँगी कि पेरिस से श्रीमती कामा को लाया जा सके।"

भारत लौटने के लिए उनके मन में व्याकुलता थी, पर साथ ही धर्म संकट भी था।

उन्होंने एक बार हरीन्द्र चट्टोपाध्याय से कहा था : "बहुत से लोग मुझसे पूछते हैं कि मैं भारत क्यों नहीं लौटती। भारत से मुझे जितना प्रेम है, उसके बावजूद मैं अपना जीवन उस भूमि की गोद में क्यों नहीं बिताती। इन लोगों को इस बात का विश्वास नहीं होता कि हम लोग विदेशों में रहकर कार्य करते हुए भी अपने देश से प्रेम कर सकते हैं। उस देश का दर्द हमारे दिलों में भी महसूस होता है जिसमें हमने जन्म लिया, हम पले, जो हमारी साँसों में जीवित है। मैं तुम्हें बताती हूँ हरिन, ..." कहते कहते वे एक क्षण रुककर फिर बोलीं : "सुनो, मैंने कसम खायी है कि मैं विदेशी पासपोर्ट लेकर भारत कभी नहीं लौटूँगी। आखिर मैं ऐसा क्यों करूँ ?"

16

अधूरे सपनों का अन्त

उम्र किसी का लिहाज नहीं करती। श्रीमती कामा पर भी उम्र का आक्रमण होने लगा। वृद्धावस्था की अशक्तता और समस्याओं ने उन्हें घेर लिया। कार दुर्घटना में उनका सिर फट गया और ऑपरेशन हुआ। इसके वाद मोतिया के लिए आँख का ऑपरेशन किया गया और उनके चहरे पर पक्षाघात हो गया। उनका शरीर और दिमाग दोनों ही ठीक काम नहीं कर रहे थे पर वे अपने कष्टों को वड़ी दृढ़ता से सह रही थीं। उनके मित्र उनकी इस जीवनी-शक्ति और संकल्प-शक्ति पर विस्मित थे जिसके सहारे वे ऐसे कष्टों पर विजय पा लेती थीं। उनके मन में बस एक ही अदम्य कामना शेष थी—एक बार फिर अपनी जन्मभूमि वापिस लौटना।

यूँ वे इस बात के लिए तैयार थीं कि किसी भी दिन पेरिस में ही उनकी मृत्यु हो सकती है। उनका पुराना घर ढह गया था। आँखों की ज्योति मंद होती जा रही थी। उनके पास शेयरों की जो सम्पत्ति थी उसमें भी उन्हें भारी घाटा हुआ था। जब से उन्हें पक्षाघात हुआ था वे मुक्ति के रूप में मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही थीं। अपनी कब्र के लिये उन्होंने पे-ला-शे नामक कब्रिस्तान में जगह खरीद ली थी। एम. पी. टी. आचार्य ने इस प्रसंग का मार्मिक वर्णन करते हुए लिखा है: "वे एक दिन मुझे अपनी सम्भावित कब्र दिखाने ले गयीं। कब्र के

लिए शिलालेख भी तैयार किया जा चुका था। फ्रांसीसी और उनकी मातृभाषा, दोनों में उनके जीवन का आदर्श-वाक्य उस पर लिखा था–"तानाशाही का विरोध, ईश्वर के प्रति वफ़ादारी है।" पारसी होने के नाते उन्हें ज़रतुश्त में गहरी आस्था थी। उन्होंने कहा कि पेरिस में वे इस बात का प्रबन्ध नहीं कर सकतीं कि उनकी धार्मिक प्रथा के अनुसार उनका शरीर गिद्धों को अर्पित कर दिया जाय पर "वस्तुतः उस शरीर पर, जो प्रकृति की देन है, हमारा कोई अधिकार नहीं है। उस पर गिद्धों का ही अधिकार है।"

आचार्य पेरिस में बिताए उनके अन्तिम दिनों में वहीं थे। वे कभी कभी उन्हें सहारा देकर उन्हीं रास्तों और कैफ़े की ओर ले जाते थे जहाँ वे वर्षों जाती रही थीं और जहाँ के लोग उन्हें अच्छी तरह जानते थे। बहुत सी नज़रें इस कारुणिक दृश्य की ओर घूम जाती थीं–एक लगभग विकलांग वृद्धा, पक्षाघात से विकृत चेहरा, वेशभूषा के प्रति बेहद उदासीन, जिसे एक अपेक्षाकृत कम उम्र का व्यक्ति सहारा दिए ले जा रहा होता था। बहुत कम लोग उस व्यक्तित्व में पहले की तेजस्विनी क्रान्तिकारी महिला की छाया देख पाते थे। ऐसी हालत में भी उनकी संघर्ष-चेतना और दायित्व-बोध बना हुआ था। अतः उन्होंने महादेव राव को बुलाकर अपनी बहुमूल्य पताका का दायित्व उन्हें सौंप दिया।

अन्ततः उन्हें अपनी मृत्यु के कुछ महीने पहले भारत लौटने की अनुमति मिल गयी। उनके गिरते हुए स्वास्थ्य और हार्दिक इच्छा को देखते हुए उनके कुछ फ्रांसीसी मित्रों ने ब्रिटिश सरकार पर दबाव डालकर उन्हें स्वदेश लौटने की अनुमति दिलवा दी।

विडम्बना यह थी कि वे इतनी दुर्बल और वृद्ध हो गयी थीं कि उनके लिए खड़ा होना, चलना, लिखना सब दूभर हो गया था। फिर भी सरकार ने उनसे लिखित आश्वासन माँगा कि वे न सभाओं का आयोजन करेंगी और न ही भाषण देंगी। बहुत समझाने-बुझाने पर, आँखों में अपमान के आँसू भरे हुए उन्होंने ज़मानत के कागज़ पर हस्ताक्षर कर दिए और वे स्वदेश लौट आयीं।

पैंतीस वर्ष के अखण्ड प्रवास से थकी हारी श्रीमती कामा को देश की याद सताने लगी थी। आयु और बीमारी दोनों से क्षीण जब वे लौटीं तो आत्मीयता और स्नेह भरे घर में नहीं, अकेलेपन और अजनबीपन से भरे अस्पताल में।

देश तब भी ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन था। स्वदेश में उनके लिए कोई जगह नहीं थी। उनके देशवासियों के पास उनके लिए समय नहीं था। वे लौटीं—सर्वथा रूखे, कृतघ्न वातावरण के बीच। उन्हें इससे कष्ट नहीं हुआ होगा यह सोचना कठिन है किन्तु उन्होंने कभी शिकायत नहीं की।

वे लौटीं ही थीं मानो जीने के लिए नहीं मरने के लिए। बम्बई पहुँचते ही उन्हें पारसी सार्वजनिक अस्पताल में भरती करना पड़ा। वहीं आठ महीने पड़े रहने के बाद 16 अगस्त 1936 को बिना किसी सम्मान के, बिना किसी शोक-सभा के उनकी मृत्यु हो गयी।

उनकी ख्याति और ब्रिटिश सरकार के भय ने बहुत से लोगों को उनसे मैत्री संबंध कायम करने से रोका। केवल बरजोर्जी, भरूचा, पेरीन नौरोजी, सावरकर के भाई और परिस के कुछ पुराने मित्रों ने उनका साथ दिया, उनकी देखभाल की। उनके पति ने अब भी उन्हें क्षमा नहीं किया था। यह बात अलग है कि उनके परिवार से कुछ संबंधी कभी-कभी श्रीमती कामा को देखने आ जाते थे।

श्रीमती कामा ने भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर जब यह आरम्भिक ज्योति जलायी थी, उस समय गांधी जी एक अल्पज्ञात वकील थे और जवाहरलाल नेहरू स्कूल के विद्यार्थी। बड़े-बड़े साहसी लोग भी उस समय क्रान्तिकारी गतिविधियों से खुलकर जुड़ने से कतराते थे क्योंकि सज़ा कठोर मिलती थी और वह भी तात्कालिक। ऐसे समय में इस बहादुर महिला ने विदेश में क्रान्तिकारी वर्ग से संबंध स्थापित किया। आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह उन्होंने दूर देश से किया। यदि वे भारत में होतीं, तो तत्काल उन्हें बन्दी बनाकर प्रभावहीन कर दिया गया होता।

भारत के लम्बे स्वाधीनता-आन्दोलन में कई महिलाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने सार्वजनिक जीवन में खुलकर भाग लिया और उनमें से कई राष्ट्रीय स्तर की नेता के रूप में मान्य हुईं। इंग्लैंड और पश्चिम के अन्य देशों में भी स्त्रियों की मुक्ति के लिए संघर्ष का एक पक्ष काफी दूर तक स्त्री-पुरुष के बीच संघर्ष का भी था। स्त्री-पुरुष के बीच यह लिंग-चेतना, एवं प्रतिस्पर्धा भारत में एक सिरे से गायब है। किन्तु राजनीति में भाग लेने वाली महिलाओं में भीखाई जी का स्थान एकदम आरम्भिक महिलाओं में है। उस समय बहुत कम भारतीय स्त्रियों को औपचारिक शिक्षा प्राप्त थी या वे घर से बाहर काम करती थीं। राजनीति तो क्या सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों में भाग लेने वाली महिलाओं की संख्या भी बहुत कम थी। भीखाई जी उस समय क्रान्तिकारी संघर्ष में सामने आकर क्रान्तिकारी बन्धुओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रही थीं। 1912 में जब सरोजिनी नायडू ने मुस्लिम लीग के ऐतिहासिक अधिवेशन में भाषण दिया तो उनके भाषण से अधिक महत्व इस बात का समझा गया कि एक महिला ऐसे अधिवेशन को संबोधित कर रही है जिसके लगभग सभी श्रोता पुरुष थे। 1917 में जब ऐनी बेसेंट इंडियन नेशनल कांग्रेस की पहली महिला अध्यक्ष निर्वाचित हुईं तो इस घटना ने नेता के रूप में महिलाओं की स्वीकृति को प्रमाणित किया। इस दौर में भारतीय महिलाएँ इस बात के लिए संघर्ष कर रहीं थीं कि उनकी आवाज पर ध्यान दिया जाए।

स्वाधीनता आन्दोलन में श्रीमती कामा के योगदान से इस स्थिति की तुलना करें तो उनकी गणना इस संघर्ष के अग्रदूतों में होगी। अपने देश की इन दोनों प्रसिद्ध महिलाओं से कहीं पहले स्टुटगार्ट में और उससे भी पहले यूरोप और अमरीका के दूसरे नगरों में भी वे सार्वजनिक सभाओं को सम्बोधित कर चुकी थीं। वे समय से पहले कितनी आगे थीं इसका सहज अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने जो कार्य 1907 में किये थे उनको दोहराने में अपने

देश के नेताओं को लगभग दो दशक का समय लगा।

श्रीमती कामा ने अपने जीवन में जो काम किया उसका विश्लेषण करने पर इस बात का बोध होता है कि उनके योगदान के महत्व का आधार उनके भाषण और उनके लेख हैं, उनकी अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्दृष्टि की व्यापकता है और इस सबसे अधिक है उनके अपने जीवन का उदाहरण और प्रेरणा। उनमें दूसरों को कर्म के लिए प्रेरित करने की अद्भुत योग्यता थी। अपने आदर्शों और बलिदानों से तथा ओजस्वी और निष्कपट वाग्मिता से उन्होंने अपेक्षाकृत युवा क्रान्तिकारियों को मातृभूमि की सेवा के लिए संगठित होकर कार्य करने के लिए प्रेरित किया।

श्रीमती कामा ने घोषणा की थी : "मेरे जीवन की एकमात्र अभिलाषा अपने देश को स्वंतत्र और संयुक्त देखना है।" वे बार-बार हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे की आवश्यकता पर बल देती थीं। उनका स्पष्ट मत था कि भारत की एकता केवल इसी बात से निश्चित हो सकती है। एकता की यह प्रचारक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या सिख किसी को भी संबोधित करती थीं तो उनका नारा बराबर यही रहता था कि "बन्धुत्व की गाँठ को कस कर बाँध लो।" उन्होंने निरन्तर इस विश्वास को दोहराया कि उनके देशवासियों के पारस्परिक संबंध धर्म, जाति, वर्ण के प्रश्नों को बिना उठाए दृढ़ और अटल होने चाहिए। वे जीवन भर ऐसे स्वाधीन भारत का स्वप्न देखती रहीं जो स्वतन्त्र हो, धर्म निरपेक्ष हो और अखंड हो।

श्रीमती कामा की अन्तिम इच्छा पूरी अवश्य हुई। वे स्वदेश लौटीं। अत्यन्त कारुणिक परिस्थितियों में, कृतघ्न वातावरण के बीच 1936 में उनकी मृत्यु भारत में ही हुई। उनकी हार्दिक इच्छा के अनुरूप उनका अंतिम संस्कार पारसी पद्धति से कर दिया गया और उसके बाद सबने उन्हें भुला दिया।

उनकी मृत्यु के बाद लगभग पच्चीस वर्ष का लम्बा अरसा बीत जाने पर 1960 में श्रीमती कामा की जन्मशताब्दी के अवसर पर

उनके योगदान और उनकी पहचान की ज़रूरत महसूस की गयी। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन में उनको श्रद्धांजलि देते हुए कहा गया : "वे स्वाधीनता के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष करने वाले प्रारम्भिक लोगों में से थीं। उन्होंने हमें पहली राष्ट्रीय ध्वजा दी। उन्हें राष्ट्रीय गतिविधियों के कारण अपने घर, परिवार और जन्मभूमि को छोड़कर विदेशों में शरण लेनी पड़ी।"

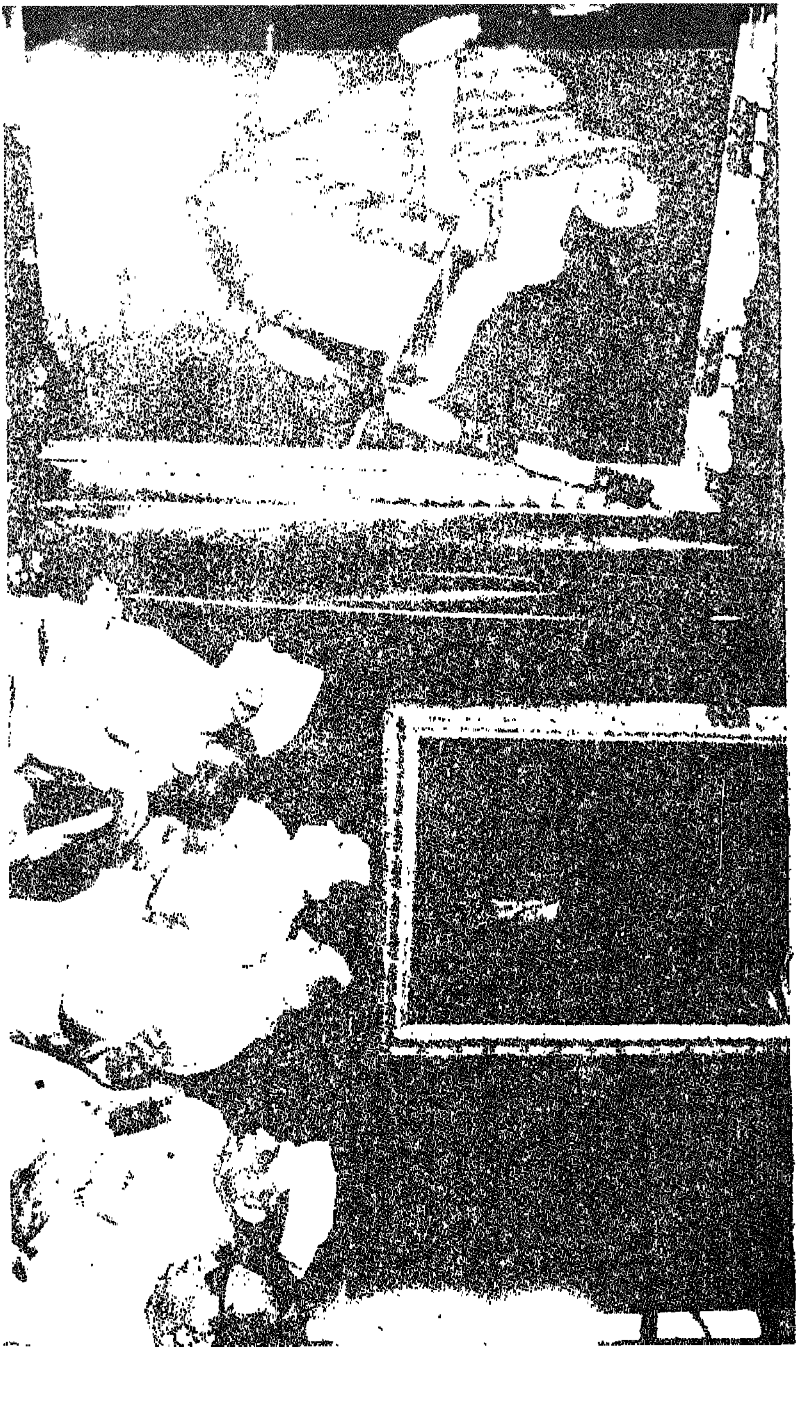
इसके साथ ही आयोजकों ने भारत सरकार से अनुरोध किया कि उनकी स्मृति को बनाए रखने के लिए समुचित कदम उठाए।

इसी संदर्भ में बम्बई महानगर निगम ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया :

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ. में हमारे देश के स्वाधीनता-आन्दोलन में श्रीमती भीखाई जी कामा की ऐतिहासिक भूमिका को यह निगम गर्वपूर्वक दर्ज करता है। स्वाधीनता के लिए उन्होंने न केवल संघर्ष किया और निर्वासन की पीड़ा भोगी बल्कि वे भारतीय राष्ट्रवाद के इने-गिने पथप्रदर्शकों में से एक थीं। वे आधुनिक युग की पहली भारतीय महिला थीं जिन्होंने ऐसे स्वतंत्र और अखंड भारतीय गणतन्त्र की कल्पना की थी जिसकी एक समान भाषा और एक समान लिपि होगी। वे पहली भारतीय क्रान्तिकारी थीं जिन्होंने भारत को उसकी पहली राष्ट्रीय ध्वजा प्रदान की, वह ध्वजा जिसे स्तुतगार्त, जर्मनी में अगस्त 1907 में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में फहराया गया।

भारत की इस महान राष्ट्रभक्त महिला के महान कार्यों और 24 सितम्बर 1961 को पड़ने वाली उनकी जन्म शताब्दी का स्मरणोत्सव मनाने के लिए निगम, कार्य-समिति से अनुरोध करता है कि वह इस सुझाव की वांछनीयता पर विचार करे कि वुड हाउस रोड अथवा किसी अन्य उपयुक्त मुख्य मार्ग का नाम बदलकर श्रीमती कामा रोड कर दिया जाय।

इस प्रस्ताव पर कार्यान्वयन पूरे दो वर्ष बाद 1962 में गणतंत्र दिवस के अवसर पर हुआ जब महाराष्ट्र सचिवालय मार्ग का नाम



बदलकर 'मैडम कामा रोड' कर दिया गया। उसी दिन उनके चित्र के साथ एक स्मारक डाक टिकट भी जारी किया गया। दिल्ली और बम्बई में अखिल भारतीय समारोह का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन प्रधानमंत्री ने की। पूना में वीर सावरकर हॉल में उनका चित्र लगाया गया। दक्षिण दिल्ली में भी अब उनके नाम पर एक महत्वपूर्ण इलाके का नाम 'भीखा जी कामा प्लेस' रख दिया गया है।

डॉ. पंचानन साहा की पुस्तक 'मैडम कामा—मदर ऑफ इंडियन रिवोल्यूशन' की प्रस्तावना में इंदिरा गांधी ने श्रीमती कामा को श्रद्धांजलि देते हुए लिखा है :

> "श्रीमती भीखाई जी कामा भारतीय नारीत्व की क्रान्तिकारी चेतना का साकार रूप थीं। उन्होंने अपने जीवन का लम्बा समय आत्मारोपित निर्वासन में बिताया। इस दौर में वे भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में यूरोपीय अभिमत को प्रेरित करती रहीं और भारतीय क्रान्तिकारियों की प्रतिभाशाली टोली को सहायता और प्रोत्साहन देती रहीं। हम विशेष रूप से अपनी राष्ट्रीय ध्वजा को लोकप्रिय बनाने की दिशा में उनके साहसिक और पथप्रदर्शक कार्यों का स्मरण करते हैं। उन्होंने जिस तिरंगे को फहराया था, उसी को हमारे स्वाधीनता आन्दोलन के द्वारा कुछ परिवर्तन करके अपना लिया गया। श्रीमती कामा के जीवन के बारे में भारतवासियों को विशेषकर भारत के युवा वर्ग को बेहतर जानकारी होनी चाहिए।"
> (5 नवम्बर, 1975)

उन्हें श्रद्धांजलियाँ तो दी गयीं, पर कम संख्या और कभी-कभार ही। उन्हें मान्यता भी मिली पर देर से और नाकाफी। इतिहासकारों ने उनकी उपेक्षा की। भारत में कहीं भी उनका कोई स्मारक नहीं है।

नई दिल्ली में संसद के केन्द्रीय कक्ष में

← श्रीमती भीखाई जी कामा के चित्र का अनावरण

पर इतना निर्विवाद है कि हर स्वतन्त्रता-प्रेमी और स्वाधीनता-सेनानी के मन में, भारत के क्रान्तिकारी संघर्ष के इस सर्वाधिक जीवंत, आकर्षक और साहसी व्यक्तित्व की स्मृति सच्चे बलिदान के अमिट प्रतीक के रूप में सुरक्षित रहेगी।

हमारे देश के लिए यह गौरव की बात है कि स्वाधीनता-सेनानियों की अग्रदूत, अन्तर्राष्ट्रवादियों में सबसे आरम्भिक व्यक्तित्व, एक भारतीय महिला का था। जीवन पर्यन्त भीखाई जी कामा ने एक स्वप्न देखा था। उन्हीं के शब्दों में "स्वतंत्र और अखंड भारत का स्वप्न।" जाति और धर्म की बाधाओं से मुक्त एक ऐसे गणतंत्र का स्वप्न जिसकी एक भाषा और एक लिपि हो। वह स्वप्न उनके जीवन-काल में पूरा नहीं हुआ। भारत उनकी मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद स्वतंत्र हुआ, वह भी खंडित रूप में। भाषायी विवाद, प्रादेशिकता, और साम्प्रदायिकता की भावना से ग्रस्त भारत आज राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होकर भी उस रूप में अखंड नहीं है जिस रूप में उसने श्रीमती कामा की कल्पना में आकार लिया था। पर इससे उनका महत्व और प्रासंगिकता कम नहीं होती।

अपने जीवन के आदर्श वाक्य "तानाशाही का विरोध, ईश्वर के प्रति वफ़ादारी है" को उन्होंने अपनी मृत्यु के लिए भी चुना था। यह वाक्य विश्व के हर स्वाधीनता प्रेमी और सेनानी के लिए आने वाले युगों में भी प्रेरणा-सूत्र होगा, इस बात से इनकार करना कठिन है।